अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या

103

प्रियरत्न आर्ष

ओ३म्

गुरुकुल-स्वाध्याय-मञ्जरी का १३ वां पुष्प

अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या

जिस में

अथर्ववेद में बतलाई जाने वाली झाड़-फूंक, जादू-टोना, गण्डा-
तावीज, मूठ-मारण, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र आदि तान्त्रिक बातों
का युक्तिप्रमाणसहित निराकरण और वैदिक-
सङ्कल्प, अभिमर्श, आदेश, मणिबन्धन,
कृत्या-वलग-अभिचार का सविवेचन
मनोविज्ञान, आयुर्वेद, विज्ञान
से अनुमोदित वास्तविक
स्वरूप प्रदर्शित
किया है।

103

लेखक

प्रियरत्न आर्ष

प्रथम वार	संवत्	मूल्य
१०००	१९९९	१॥)

प्रकाशक-
मुख्याधिष्ठाता
विश्वविद्यालय गुरुकुल काङ्गड़ी
हरिद्वार (सहारनपुर)

प्रिय-ग्रन्थमाला सं० २३

मुद्रक—
चौ० हुलासराय
गुरुकुल यन्त्रालय,
गुरुकुल कांगड़ी।

विषय सूची

प्राक्कथन



भाई प्रियरत्न जी का
वेद-प्रेम प्रशंसनीय और
अनुकरणीय है, प्रेम की
परख निःस्वार्थता से होती है।
पं० प्रियरत्न जी ने डेढ़-दो वर्ष
तक गुरुकुल-पुस्तकालय में बैठ कर
दिन-रात परिश्रम करते हुवे अपना
भोजन भी अपने पास से ही करते हुवे वेद
के विषय में दो पुस्तकें तैयार की हैं। इस समय
में उनका अपना साढ़े तीन सौ या चार सौ रुपया तो
व्यय हुआ ही होगा और यदि उनके मूल्यवान् परिश्रम
का खर्च गिना जा सके तो यह १३ सौ-१४ सौ तक पहुँच
जायगा। पर उन्होंने गुरुकुल से एक भी पैसा न लेते हुवे
इन दो पुस्तकों में से एक पुस्तक यह "अथर्व वेदीय मंत्रविद्या"
गुरुकुल को स्वाध्याय-मञ्जरी-ग्रन्थमाला के लिये भेंट दे दी है।
यह श्री पं० प्रियरत्न जी की उदारता है, वेद-प्रेम है और ब्राह्मणत्व

है। इस "अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या" का पर्याप्त भाग मैंने स्वयं मान्य ग्रन्थकर्त्ता महोदय के श्रीमुख से सुना है और मुझे यह प्रकट करते हुवे प्रसन्नता होती है कि पुस्तक सुन्दर लिखी गयी है, परिश्रम से लिखी गयी है तथा स्वाध्यायशीलों को लाभ पहुंचाने वाली है। वेद का अनुसन्धान करने वालों के लिये भी उपयोगी है, क्योंकि मन्त्रविद्या-संबन्धी अथर्व वेद के सब स्थलों का इसमें विचार किया गया है, कुछ भी छूटा नहीं है। आशा है श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सब गुरुकुल-प्रेमी सदस्य तथा अन्य सब स्वाध्याय मञ्जरी के ग्राहक इस हितकारी वैदिक स्वाध्याय से लाभ उठायेंगे और यथेष्ट आत्म-कल्याण करेंगे ॥

अभय
आचार्य
विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी ।

भूमिका

:——:

श्री पं० प्रियरत्न आर्ष ने अथर्ववेद के सम्बन्ध में यह ग्रन्थ जिस का नाम उन्हों ने "अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या" रक्खा है, लिखा है। ग्रन्थ का उद्देश्य इस बात पर विचार करना था कि अथर्व वेद के सम्बन्ध में जो कुछ पाश्चात्य विद्वान् और कुछेक उन्हीं के पीछे चलने वाले हिन्दुस्तानियों ने यह लिखा है कि वह जादू, टोने, तन्त्र-मन्त्र, झाड़-फूंक आदि की विधियों से भरा है कहां तक सत्य है। मैंने ग्रन्थ की हस्त कापी को आद्योपान्त पढ़ा। आर्ष महोदय का कथन है कि अथर्ववेद में अन्य शिक्षाओं के साथ निम्नाङ्कित पांच बातों की भी शिक्षा दी गई है:—

(१) सङ्कल्प या आवेश (Self Hypnotism or Magnatism)

(२) मार्जन और अभिमर्श (Mesmerism)

(३) आदेश (Hypnotic Suggestion)

(४) मणि-बन्धन (जिसका अशुद्ध नाम गंडा, तावीज है) ।

(५) कृत्या और अभिचार (टोना, टोटका आदि, जिसे प्रसिद्ध किया जाता है) विद्वान् लेखक ने इन बातों की पुष्टि अथर्ववेद के मन्त्रों से की है प्रत्येक मन्त्र के साथ साथ अनुवाद दिया गया है जिससे सुगमता के साथ प्रत्येक श्रेणी का पाठक मन्त्रों का आशय समझ सकता है मन्त्रों के पढ़ने से, वस्तुतः लेखक के विचारों का समर्थन होता है ।

लेखक ने इन वैदिक प्रयोगों का समर्थन आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों से करते हुए इन्हें पूर्णतया वैज्ञानिक प्रमाणित किया है । कुछेक उदाहरण यहां दिये जाते हैं:—

(१) आञ्जनमणि—सुरमे की बनी गोली या टिकियायें हैं जिन्हें आञ्जन मणि कहते हैं सुरमा खनिज वस्तुओं से बनाया जाता है । इन गोली आदि को घिस और लेपरूप में करके आंख, नाक में उसकी बूँद डाली जाती है अथवा पिया जाता है इससे सांप के काटने से जो विष शरीर में प्रविष्ट होता है, उसका प्रभाव जाता रहता है पांडु और क्षय रोग आदि की इस से निवृत्ति होती है । इत्यादि

(२) शङ्खमणि—वह शङ्ख जिसमें से मोती निकलते हैं । मोती सहित का नाम शङ्खमणि है । इस मणि के प्रयोग में

लाने से शारीरिक, मानसिक रोग और कामवासना का वेग दूर हुआ करता है, आयु की वृद्धि हुआ करती है। इत्यादि

(३) औदुम्बर मणि—उदुम्बर गूलर को कहते हैं। इस के फल को अङ्कोल बीज के तेल में पकाकर खाने से एक मास तक भूख नहीं सताती— शिरस, गूलर तथा शमी के फलों को घृत में पकाकर खाने से दो सप्ताह तक भूख नहीं लगती।

(४) अभीवर्त मणि— इस मणि से अस्त्र बनाकर बम आदि की तरह शत्रु-सेना पर प्रयोग करने का विधान है।

(५) दर्भमणि—दर्भ अभरक को कहते हैं इस के कवच बनाकर शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा की जाती है।

(६) कृत्या और अभिचार के प्रयोग शत्रुसेना पर आक्रमण करके उनके वध के लिये हुआ करते हैं। कृत्या के प्रयोग से मकान भी तोड़े फोड़े जाते हैं इत्यादि इत्यादि।

समस्त ग्रन्थ के पाठ करने के बाद किसी भी पाठक पर जो प्रभाव पड़ सकता है, वह यह है कि आर्ष महोदय का हिन्दी भाषा में यह पहला प्रयत्न है जिसके द्वारा उन्होंने अथर्ववेद के उन स्थलों का जिसके लिये तन्त्र मन्त्र और जादू टोना बतलाने वाले कहा जाता है का स्पष्टीकरण किया है और

स्पष्टीकरण करते हुए उनका वास्तविक रूप जनता के सामने उपस्थित किया है। प्रत्येक वैदिक साहित्यसेवी से आशा है कि आर्ष जी के इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

ग्रन्थ के पढ़ने से, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और इस अपूर्व प्रयत्न के लिये मैं पं० प्रियरत्न आर्ष को बधाई देता हूं।

अलमोड़ा } नारायण स्वामी
२२-९-१९४१ }



❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या

प्रथम पटल

मन्त्र तथा मन्त्रविद्या का स्वरूप

मन्त्रविद्या को लोग जादू कहते हैं। जादु शब्द फारसी भाषा का है[1]। वहां इसका अर्थ किन्हीं ऐसे गुप्त प्रयोगों का नाम है जिनसे बाजीगरी के खेल तमाशे आश्चर्यजनक अद्भुत अमानुषी कौतुहल करश्मे वशीकरण और हिंसा-परघात किया जाता है। हमारी धारणा है कि इसका मुख्यार्थ हिंसा अर्थात् परघात है। जादु शब्द वेद के "यातु" शब्द का

---

१ हिन्दी में इसे दीर्घान्त माना गया है।

रूपान्तर या अपभ्रंश है। वेद के "यातु" शब्द का अर्थ हिंसा है "यातयति वधकर्मा" (निघ० २। १९) से बना है। तान्त्रिक परिभाषा में जादू के प्रयोगों को इन्द्रजाल या ऐन्द्रजालिक प्रयोग कहते हैं। "इन्द्रजाल" तथा "बृहद् इन्द्रजाल" आदि तन्त्रग्रन्थों में उक्त गुप्त बातों और हिंसापरक प्रयोगों का विस्तार से वर्णन किया है, इनका मूल भी वेद में है। अथर्ववेद में शत्रुसेना के वधार्थ इन्द्रजाल रचने का वर्णन आता है। वहां विद्युत् आदि पदार्थों द्वारा ऐन्द्रजालिक विधियों से शत्रु-सेना को क्षुब्ध, भयभीत, पीड़ित और हिंसित करने का विधान है[२]। तन्त्र-ग्रन्थों में रोग दूर करने, सर्प आदि के विष उतारने के भी वर्णन हैं। ऐसे गुप्त प्रयोगों को मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र नाम से कहा जाता है। वेद के गुप्त प्रयोग वैज्ञानिक हैं, परन्तु तन्त्रग्रन्थों में कहे बहुधा कल्पित और अवैज्ञानिक हैं, इस विषय में श्री० रामदास गौड़ की सम्मति पढ़ने योग्य है। वे अपने लिखे "हिन्दुत्व" नामक एक ग्रन्थ में तन्त्र प्रकरण में लिखते हैं कि

---

२ बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥
मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥
(अथर्व० ८।८।६, १८)

"तन्त्रोक्त मारणोच्चाटन वशीकरणादि आभिचारिक क्रिया का प्रसङ्ग अथर्व संहिता में पाया जाता है सही, किन्तु तन्त्र के अन्यान्य प्रधान लक्षण नहीं मिलते। ऐसी दशा में तन्त्र को हम अथर्व-संहितामूलक नहीं कह सकते।" (हिन्दुत्व)।

मन्त्र का मनोविज्ञान के साथ तन्त्र का सूक्ष्म भौतिक विज्ञान के साथ और यन्त्र का सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक विज्ञान के साथ सम्बन्ध है। कला मैशीन आदि को यन्त्र कहते हैं, यन्त्र में अमानुषी गुप्त शक्ति होती है, सैंकड़ों और सहस्रों मनुष्यों का काम अल्पकाल में ही यन्त्र द्वारा हो जाता है। रेलगाड़ी प्रथम-प्रथम जब चलने को थी तो कहा जाता था कि एक गाड़ी ऐसी चलेगी जो विना बैलों के या घोड़ों के हजारों मनुष्यों को अपने में बिठाकर ले जावेगी, लोग इसे जादू की बात समझते थे। एवं सिनेमा के चित्र दिखाने वाली लालटेन को अभी भी मैजिक लालटेन या जादू की लालटेन कहते हैं। कलाएं, मैशीनें स्थूल भौतिक विज्ञान है और अदृष्टरूप शक्ति सूक्ष्म भौतिक विज्ञान है। पृथिवी जैसे भारी गोले का नियन्त्रण भी यन्त्र द्वारा ही हुआ हुआ है "सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने" (ऋ० १०। १४९। १) अर्थात् सूर्य ने यन्त्रों-अदृष्ट शक्तियों द्वारा पृथिवी को निरालम्ब आकाश में सम्भाला हुआ है। तन्त्र शब्द से फैलने वाले प्रयोग अभीष्ट हैं जो पृथिवी, जल और वायु में बिछाये फैलाए जा सकते हैं। जो कि विषैली ओषधियों विद्युत् की लहरों द्वारा रचे जाते हैं। वे दृष्ट हों—अस्त्रों (बम) के रूपमें

या अदृष्ट हों—वायव्य रूप (गैस के रूप) में। मन्त्र कहते हैं गुप्त भाषण और मनन करने योग्य सिद्धान्त को, क्योंकि "मन्त्रि गुप्त भाषणे" (चुरादि०) से मन्त्र शब्द बना है। तथा "मन्त्रा मननात्" निरुक्त ७। १२) इससे गुप्त भाषण और रहस्य का नाम मन्त्र हो सकता है। उसका क्षेत्र अधिकारी तक परिमित रहने से वह मन्त्र कहलाया या अधिकारी वा जनसाधारण तक न पहुंचने और उसे न समझ सकने के कारण वह मन्त्र या जादू के नाम से कहा जाता है। उस ऐसे आदेश (Suggestion) का नाम भी मन्त्र है जिसके उच्चारणमात्र से किसी पात्र पर प्रभाव पड़ जावे। वह उसके कहने के अनुसार काम करने लगे क्योंकि वाणी का नाम भी मन्त्र है "वाग्वै मन्त्रः" (श० ६।४।१।७।) इससे वाग्विद्या और विचार-विद्या का नाम मन्त्र है। वाणी ऐसी परिमित उचित और गम्भीर बोली जावे कि जिससे दूसरे पर तुरन्त प्रभाव पड़े। इस प्रकार विचार करे या दूसरे को विचार दे कि जिससे अपने तथा दूसरे की काया पलट जावे। इस प्रकार के सहसा प्रभावकारी अनुष्ठान या प्रयोग को मन्त्र-विद्या कहते हैं। इसके विभाग हम पांच कर सकते हैं। जिनका कि अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है जो कि सङ्कल्प या आवेश (Self Hypnotism or Magnatism), अभिमर्श[1] और मार्जन (Mesmerism), आदेश (Hypnotic

---

१ अज्ञानी जन इसे झाड़ फूंक के नाम से कहते हैं।

Suggestion), मणिबन्धन[२], कृत्या और अभिचार[३]। इन पांच बातोंके द्वारा शारीरिक रोगोंको हटाना, उन्माद–भूतोन्माद आदि मानसिक दोषों को दूर करना, दारिद्र्य (दुर्गति अकर्मण्यता), अलक्ष्मी (अशोभा) को भगाना, निराशा को हटाना, ईर्ष्या आदि मानस पाप का शमन करना, अशान्ति को दूर करना, दुष्ट स्वप्न के प्रभाव को मिटाना, वीरता आदि गुणों का आवेश करना, यातुधान-नाशन अर्थात् हिंसाकारक प्रयोगों और वस्तुओं एवं प्राणियों को नष्ट करना, शत्रु का घात करना, अपने अन्दर से रोगों और दोषों को हटाकर स्वास्थ्य तथा अच्छे गुणों को लाना आदि विषयों का वर्णन अथर्ववेद में है। इन प्रकरणों को यथावत् न समझकर लोगों ने अथर्ववेद में तान्त्रिक मन्त्र जादू को सिद्ध किया।

उपर्युक्त मन्त्रविद्या की पांचों बातों का स्वरूप तथा अथर्ववेद के प्रकरणों को हम क्रमशः अर्थ और व्याख्या एवं विवरणों के सहित विभाजित करके पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं। इनमें सङ्कल्प और आवेश की विद्या सर्वश्रेष्ठ है तथा इसका अपने साथ सम्बन्ध है। इसके द्वारा अपना सुधार

---

२ इसी का अशुद्धरूप गण्डा तावीज नक्श डोरा धागा आदि चला हुआ है।

३ इसी को भ्रान्ति से लोगों ने टोना, टोटका मूठ मारना आदि रूप दिया हुआ है।

और अपनी शक्तियों का विकास करना सर्वोत्तम है। पुनः दूसरों के प्रति अन्य विद्याओं या प्रयोगों का होना सम्भव तथा उचित है। अतः प्रथम सङ्कल्प और आवेश की विद्या का वर्णन करते हैं।



द्वितीय पटल



सङ्कल्प और आवेश

प्रबल तथा साधिकार इच्छा का नाम सङ्कल्प है और उसका पुनः पुनः आवर्तन आवेश कहलाता है। मनोविज्ञान का सर्व-प्रथम आधार केवल सङ्कल्प और आवेश है। मनकी सर्व प्रथम गति सङ्कल्प है अपितु सङ्कल्प ही मन का सार और उसके विकास का कारण है। वेद में संङ्कल्प अर्थात् इच्छा या कामना को मनुष्य के आन्तरिक जीवन की मूर्ति और बाह्य जीवन की पूर्ति बतलाया है।

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। स
काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥

(अथ० १६। ५२। १)

अर्थ—(कामः) इच्छा-सङ्कल्प (अग्रे) प्रथम (समवर्तत) वर्तमान होता है (तत्-यत्) वह जो कि (मनसः) मन का (प्रथमं रेतः) प्रथम सार (आसीत्) है। (स काम) वह तू सङ्कल्प ! (बृहता कामेन) पुनः उद्यत हुए उठे हुए संकल्प के साथ "बृहू उद्यमने बृहू इत्येके" (तुदादि०) (सयोनिः) समानस्थानी-समान क्षेत्र-एक हुवा हुआ-मिला हुआ (यजमानाय) शरीर-यज्ञ के याजक आत्मा या जीव के लिए "इन्द्रो वै यजमानः" (श० ६। ५। २। १६) (रायस्पोषम्) ऐश्वर्य पुष्टि को-अभ्युदय को (धेहि) धारण करा॥

मन्त्र में बतलाया है कि सङ्कल्प मन का सार है सङ्कल्प ही मनोविकास का कारण और आधार है, मन में प्रथम सङ्कल्प होता है पुनः वह उद्यमरूप सङ्कल्प अर्थात् साधिकार सङ्कल्प बन अभीष्ट भाव को मन में आवर्तित कर के संगृहीत करता है, इस प्रकार पुनः पुनः आवर्त्तन के अभ्यास से मन आन्दोलित हो विद्युत् की भांति अपनी पूर्ण शक्ति को अभीष्ट भाव की ओर प्रेरित करके उसे आकर्षित कर लेता है। जिस प्रकार विद्युत् की दो तरंगे होती हैं, उसकी शक्ति को व्यक्तरूप में लाती हैं और और पुनः विविध कार्य में उपयुक्त करती हैं एवं मन की भी दो तरंगे हैं वेद में उन्हें बोध और प्रतीबोध नाम से कहा है।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥
(अथ० ५ । ३० । १०)

इस मन्त्र का पूरा अर्थ हम आगे करने वाले हैं, यहां केवल यही बतलाना ध्येय है कि मन की दो तरंगे बोध और प्रतीबोध हैं, इनको लौकिक भाषा में संकल्प और विकल्प कहते हैं। बोध या संकल्प में स्वप्न अर्थात् विस्मृति या तिरोभाव नहीं होता। वह अभीष्ट भाव में लगा रहता है और प्रतीबोध अर्थात् विकल्प जागृत होता रहता है। वह अनभीष्ट को (जो अभीष्ट नहीं उसे) हटाता रहता है, उसे अभीष्ट से मिलने नहीं देता। इस प्रकार सङ्कल्प (अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा) विकल्प (अनभीष्ट निवारण की इच्छा) परस्पर मिलकर सङ्कल्प से किकल्प और विकल्प से संङ्कल्प बल पाकर मानसिक विद्युत् को उत्पन्न कर देते हैं, पुनः विशुद्ध अभीष्ट का आकर्षण और अनभीष्ट का निवारण करके कृतकार्य हो जाते हैं। जैसे विद्युत् की दो तरंगें प्रकाश और दाह को देने वाली हैं, एवं मन की ये सङ्कल्प और विकल्प तरंगें मनुष्य के जीवन क्षेत्र में अभीष्ट गुणों को प्रकाशित और अनभीष्ट को दग्ध कर देती हैं। इसके द्वारा मनुष्य अपने अन्दर से पाप निर्बलता और त्रुटि को दूर कर सकता है तथा सद्गुणों बल और उत्साह का अपने में आवेश कर सकता है। अथर्ववेद में इस प्रकार

दुर्गुणों के बहिष्करण और सद्गुणों के आवेश का प्रतिपादन बहुत स्थलों पर किया है। उनमें से कुछ हम इस ग्रन्थ में देते हैं।

पाप को हटाने का संकल्प—

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः॥

(अथ० ६। ४५। १)

अर्थ—(मनस्पाप) ओ मन के पाप ! तू (परः-अपेहि) परे चला जा (किम्) क्योंकि तू (अशस्तानि) निन्दित बातों को (शंससि) पसन्द करता है (परेहि) दूर चला जा (त्वा) तुझे (न) नहीं (कामये) चाहता हूं। (वृक्षान्) वृक्षों को (वनानि) वनों को (संचर) प्राप्त हो (मे) मेरा (मनः) मन (गृहेषु) स्त्री पुत्रादियों में (गोषु) गौओं में रहे॥

मन में पापभाव आने पर उसे हटाने के लिये यहां वेद ने दो उपाय या प्रयोग बतलाए हैं। एक तो प्रतीबोध या विकल्प अर्थात् अनभीष्ट पापभाव में दोषदृष्टि या घृणा को उत्पन्न करना उसके लिये नगर से बाहर किसी ऐकान्त शान्त जंगल और वन में जाकर घृणा उत्पन्न कर उस पाप भाव को वहां ऐसे त्याग देना जैसे हानिकारक किसी जन्तु को

छोड़ आते हैं । उसके सम्बन्ध में पुनः पुनः दोषदृष्टि या घृणा का आवर्तन कर-कर के पूर्ण-रूपेण सदा के लिये त्याग देना । दूसरे मन में उस पापभाव के स्थान में घर के स्त्री पुत्रादि बन्धुओं के प्रति अपने कर्तव्य का विचार करके मन को उधर लगाए रखना यही मनकी दूसरी शक्ति बोध या सङ्कल्प है । इस प्रकार दोनों के परस्पर आवर्तन, अभ्यास और अनुष्ठान से हटाने योग्य दोष अवश्य दूर हो जावेगा । इसके लिये मानसिक पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये कि मैं इस दोष को हटा दूंगा, हटा कर रहूंगा, उसे हटाना कोई कठिन नहीं, हटाना तो मन का खेल है अवश्य हटा दूंगा ॥

आशा, उत्साह, और सफलता प्राप्ति का सङ्कल्प—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित् ॥

(अथर्व० ७ । ५२ । ८)

अर्थ—(कृतम्) कर्म (मे) मेरे (दक्षिणे) दक्षिण (हस्ते) हाथ में (जयः) विजय या सफलता (मे) मेरे (सव्ये) वाम हाथ में (आहितः) प्राप्त है । (गोजित्) मैं गौओं, इन्द्रियों और भूमि का विजेता (अश्वजित्) इन्द्रिय-वृतियों, शक्तियों और राष्ट्र का विजेता (धनञ्जयः) धन ऐश्वर्य और अभ्युदय का विजेता (हिरण्यजित्) सम्पत्ति यश शोभा का विजेता (भूयासम्) होऊं-बनूं ॥

प्रत्येक कार्य करते हुए मन में इस प्रकार आशा और उत्साह को बनाए रखना चाहिए कि कर्म करना और उसमें सफलता प्राप्त करना मेरे दाएं-बाएं हाथों का खेल है। न मैं कर्महीन हो सकता हूं और न उस कर्म में कभी विफल, किन्तु सदैव सफलता प्राप्त करना मेरा अधिकार है। मुझे धैर्य के साथ काम में लगे रहना है शीघ्र नहीं तो देर से कभी न कभी अन्त में सफलता अवश्य ही प्राप्त करना है।

यदि बारम्बार यत्न करने पर भी मनुष्य अपने मानसिक बल से दोषों को दूर न कर सके तथा उत्तम गुणों का आवेश करने में अपने को असमर्थ पावे तो फिर उसे अपने इष्ट-देव की शरण लेनी चाहिये। जगदीश्वर अन्तर्यामी परमात्मा आत्मा का भी आत्मा है उसके प्रति अपने को समर्पित करके दोषों को दूर करने और गुणों को अन्दर प्रविष्ट करने की आत्मभाव से विश्वास के साथ प्रार्थना करनी चाहिए, सफलता अनिवार्य है जैसा कि वेद में दिया है।

त्रुटि, दोष, न्यूनता दूर करने के लिए संकल्प—

अग्ने यन्मे तन्वा ऊनन्तन्म आपृण।

(यजु० ३। १७।)

अर्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (मे तन्वा यद् ऊनम्) मेरे तनु अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मन में जो

न्यूनता त्रुटि निर्बलता असमर्थता या कमी हो (तत्) उसे मेरे अन्दर (आपृण) पूरा कर ॥

शक्तिप्राप्ति के लिये सङ्कल्प—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजोमयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेयि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥
(यजु० १९। ९)

अर्थ—(तेजोऽसि तेजो मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू तेजस्वरूप है मुझमें तेज धारण करा—भर (वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू पराक्रमरूप है मुझ में पराक्रम डाल (बलमसि बलं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू बलस्वरूप है मुझ में भी बल दे (ओजोऽसि-ओजो मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू ओजमय है मुझ में ओज धारण करा (मन्युरसि मन्युं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू प्रभावस्वरूप है मुझ में भी प्रभाव धारण करा (सहोऽसि सहो मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू साहसस्वरूप है मुझ में भी साहस भर॥

जैसे विद्यावान् के सङ्ग से विद्या, और तेजस्वी अग्नि के सङ्ग से तेज का लाभ होता है एवं पूर्ण तेजस्वी पूर्ण वीर्यवान् पूर्ण बलवान् पूर्ण ओजस्वी पूर्ण प्रभाववान् और पूर्ण साहसी परमात्मा के सङ्ग से तेज, वीर्य-बल, ओज, प्रभाव और साहस का प्राप्त होना अत्यन्त सम्भव तथा अनिवार्य है।

जब तेज को प्राप्त करना हो तो परमात्मा को अपने बाहर भीतर सर्वत्र पूर्ण अनन्तरूप से व्याप्त तेजस्वी समझ तन्मय तल्लीन हो अपने अन्दर तेज का आवेश करना चाहिये अपने को उसके सङ्ग से तेजस्वी होने का आन्तरिक प्रयत्न करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि मैं अनन्त तेजस्वरूप तेज के भण्डारमें हूं तेजस्वी बन रहा हूं। इसी प्रकार वीर्य-प्राप्ति के लिए अनन्त वीर्यवान् बलप्राप्ति के लिये अनन्त बलवान् ओज प्राप्ति के लिये अनन्त ओजस्वी और साहस प्राप्ति के लिये अनन्त साहसी परमात्मा में निमग्न हो वीर्य, बल, ओज, प्रभाव और साहस का आवेश अपने अन्दर करना चाहिये। इस प्रकार शान्तस्थान और शान्त समय में प्रातः सायं आवेश का अभ्यास करना चाहिये इससे अत्यन्त सफलता प्राप्त होती है।

अवगुणों को दूर करने, सद्गुणों के आवेश करने की भांति रोगों को दूर करने स्वास्थ्य-बल का आवेश करने के लिए भी वेद का विधान है।

रोग दूर करने का संकल्प—

अपेहि मनसस्पतेपक्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मन ॥

(अथर्व० २०। ९६। २४)

अर्थ—(मनसस्पते) ओ मन को पतित करने वाले दुःख देने वाले यक्ष्म अर्थात् रोग ! तू (अपेहि) हट

जा (अपक्राम) दूर होजा (परश्चर) परे चला जा (जीवतः) जीवनधारण करते हुए–जीते हुए के (मनः) मन को (निर्ऋत्यै-'निर्ऋत्याः') आपदा से—दुःख से (बहुधा) अनेक प्रकारों से अनेक उपायों उपचारों के सेवन द्वारा (परः-आचद्व) दृष्टि से परे हो—तिरोहित हो जा—विलुप्त हो जा ॥

मन में संकल्प विकल्प के द्वारा जैसे दुर्भावों को दूर करने और सद्भावों को अन्दर आवेश करने की शक्ति है, एवं रोगों को दूर करने और स्वास्थ्य तथा बल का आवेश करने की भी शक्ति है। क्योंकि मन का स्थान हृदय है "हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४ । ६) हृदय ही जीवनशक्ति का स्थान है वही प्राणशक्ति का केन्द्र है। मानसिक भावनाओं से परिपुष्ट प्राणों की गति होने से रोगों का बहिष्कार और स्वास्थ्य तथा बल का संचार शरीर में हो जाना अनिवार्य है। मन के संकल्प और विकल्प प्राण के रक्षक हैं। वेद में स्पष्ट कहा भी है "ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्" (अथर्व० ५ । ३० । १०) इन संकल्प विकल्पों के द्वारा रोग दूर करने के प्रकार का संकेत ऊपर "अपेहि मनसस्पते" में किया है।

हाथी के बल को अपने अन्दर आवेश करने का संकल्प—

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत्
तन्वः सम्बभूव॥

(अथ० ३ । २२ । १)

अर्थ—(हस्तिवर्चसम्) हाथी का बल (प्रथताम्) मेरे शरीर में फैले—विस्तार पावे—प्रविष्ट हो (यत्) जो (अदित्याः–तन्वः) अखण्ड ईश्वरीय शक्ति के मानो शरीर से (बृहद् यशः) महान् यश या बड़ी शोभा बड़े सत्व के रूप में (सम्बभूव) प्रकट हुआ है।

हाथी के बल को अपने अन्दर आवेश करने के सम्बन्ध में मन्त्र का संकेत है। योगदर्शन में संयमप्रकरण में लिखा है "बलेषु हस्तिबलादीनि" (योग। विभूतिपाद। २४) हाथी के बल में संयम अर्थात् धारणा ध्यान समाधि करने से हाथी का बल प्राप्त होता है। हाथी को देखते हुए या उसकी अनुपस्थिति में हाथी की आकृति को मन में चित्रित करके उसके बल को अपने अन्दर लाने का आन्तरिक प्रयत्न करना चाहिए। हाथी अपनी सूंड से वृक्षों की डालों शाखाओं और टहनों को तोड़ देता है, बहुतेरे वृक्षों को भी समूल उखाड़ फैंकता है। एक स्थान पर खड़ा हुआ भी अपने बल की मस्ती में झूमता रहता है इत्यादि बल की चेष्टाओं का अपने अन्दर आकर्षण करना और समझना कि मैं हाथी के उक्त बल को अपने शरीर में प्रविष्ट कर रहा हूं—मेरे शरीर में वह बल आ रहा है इस प्रकार मन से प्रतिदिन कुछ काल तक निरन्तर अभ्यास करने से अपूर्व लाभ प्राप्त होता है। इस विधि का अभ्यास शान्त बैठकर ध्यान द्वारा तथा व्यायाम करते हुए भी

करना चाहिए। व्यायाम करते हुए वैसी ही हाथी-जैसी चेष्टाएं करना और अपने अङ्गों को बीच बीच में देखते जाना मानसिक प्रभाव डालकर हाथी-जैसी पुष्टि तथा बल लाने का अनुभव करना कि वे पुष्ट हो रहे हैं, उनमें बल आरहा है।

जिस महानुभाव के मन में दोष नहीं और पूर्वोक्त प्रकार से मानसिक एवं आत्मिक बल भी प्राप्त कर लिया हो वह किसी दूरस्थ दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में शुभ सङ्कल्प करे तो उस के आत्मा में प्रभाव पड़ सकता है। बहुत वार देखा गया है कि शुद्ध मन से किए विचारों की सूचना या स्फुरणा के अनुसार अन्य व्यक्ति अनुकूल आचरण करने लगता है। किसी को मिलने या बुलाने की इच्छा होती है तो वह व्यक्ति तुरन्त मिल जाता है या आजाता है। मन की निर्मलता, एकाग्रता और परस्पर गहरे प्रेम के कारण एक के विचारों का सन्देश (तार) तक दूसरे को पहुंच जाता है। अतएव महात्मा साधुजनों के अन्दर हार्दिक हितचिन्तनभाव और आशीर्वाद हमारे कल्याण करने वाले हो जाते हैं एवं सद्वैद्यों के स्वास्थ्यलाभ पहुंचाने के सङ्कल्प और आश्वासन रोगी के रोगों को हटाने में सहायक बन जाते हैं, यह सङ्कल्पशक्ति का विषय मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है इसे जादू नहीं कहा जा सकता है।

तृतीय पटल

अभिमर्श और मार्जन

अभिमर्श शरीर में सनसनाहट उत्पन्न कर देने वाले स्पर्श का नाम है। जिस अङ्ग में सनसनाहट उत्पन्न हो जाती है वहां के आन्तरिक तन्तुओं में विचित्र विद्युत् की लहरों-जैसी गति उत्पन्न हो जाती है जो न केवल उस ही अङ्ग पर प्रभाव डालती है किन्तु अन्यत्र भी उसका प्रभाव पड़ जाता है। हाँ, विशेष करके उस स्थान पर होता है। अभिमर्श से रोग तथा मानसिक दोष दूर किये जा सकते हैं। इस अभिमर्शविद्या को पाश्चात्य विद्वान् मेस्मरिज़्म (Mesmerism) कहते हैं और अभिमर्श-क्रिया को पास

करना (Passes) कहते हैं। अभिमर्श के द्वारा चिकित्सा करने का अथर्ववेद में वर्णन है, हम यहां कुछ मन्त्रों के द्वारा इसको प्रदर्शित करते हैं।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि॥

(अथर्व० ४। १३। ६, ७)

अर्थ—हे प्यारे रोगी! (अयं मे) यह मेरा (हस्तः) हाथ (भगवान्) भाग्यवान् यशस्वी भागधेयी फलवान् है (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा दूसरा हाथ अत्यधिक भाग्यवान् यशस्वी और फलवान् है (अयं मे विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ समस्त रोगों का शमनकारक औषधरूप है (अयं शिवाभिमर्शनः) यह सुख शान्ति के स्पर्श वाला है। (हस्ताभ्यां दशशाखाभ्याम्) दशों अंगुलियों सहित हाथों से तथा (ताभ्यामनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्याम्) उन आरोग्यकारक हाथों से (त्वाभिमृशामसि) मैं तुझे अभिमर्श करता हूं—छूता हूं। तथा (वाचः पुरोगवी जिह्वा) वाणीको अग्रसर करने वाली मेरी जिह्वा है उससे तुझे आदेश देता हूं॥

रोगी को खुली अंगुलियों वाले हाथों से अभिमर्श करने का विधान इन मन्त्रों में है। अभिमर्श प्रभावकारी स्पर्श का नाम है और वह तब हो सकता है जब कि रोगी के अङ्गको स्पर्श करने में प्रयोजक के हाथ ढीले हों और अंगुलियों का स्पर्श अङ्ग पर भार न डाले (किञ्चित् ही स्पर्श हो) जो कि अंगुलियों के आगे सरकने से रोगी के उस अङ्ग में या बाहर भीतर त्वचा में एक संस्पर्श (सनसनाहट) उत्पन्न कर दे, इस ऐसे स्पर्श का ही नाम अभिमर्श (Passes) है। ऐसे संस्पर्श (सनसनाहट) से शरीर के तन्तुओं में लहरें चलने लगती हैं, वे आगे बढ़ती हुई नाड़ियों की गति को तीव्र कर देती हैं। इससे रोगी पर एक प्रभाव पड़ता है वह अपने अन्दर विद्युत् जैसी स्फुरणा अनुभव करता है। इस प्रकार आन्तरिक गतियां चालू हो जाने से रोगी का मल नीचे उतरने लगता है अन्य दोष भी यथास्थान पर आने लगते हैं, रक्त में शुद्धि और मन में सुख शान्ति का अनुभव होता है तथा वह नींद में भी चला जाता है, ऐसे कुछ काल करने से रोगी को बड़ा लाभ होता है। माताओं के हाथों की लोरी से बच्चे आराम से सो जाते हैं

अभिमर्श दो प्रकार का होता है, एक तो गतिरूप दूसरा स्थानिक। गतिरूप अभिमर्श अंगुलियां फैलाए हुए हाथों को धीरे धीरे ऊपर से नीचे या आड़ी ओर सरकाने को कहते हैं यह रोगों या मानसिक दोषों को दूर करने में हितकर है। दूसरा स्थानिक

अभिमर्श एक स्थान में ही पुनः पुनः स्पर्श करने का नाम है। यह बल सुख शान्ति या सद्भावों के भरने में उपयुक्त है। उक्त दो प्रयोजन अभिमर्श के हैं जो 'अयं मे हस्तो भगवान्' से ऊपर ले मन्त्र में वेद ने कहे हैं। "दक्षं त उग्रमा भारिषं परा यक्ष्मं सुवामसि।" (अथर्व० ४ । १३ । ५) अर्थात् हे रोगी ! तू चिन्ता न कर मैं अपने हाथों द्वारा तेरे अन्दर से रोग को दूर करता हूं और तुझ में बड़े भारी बल स्वास्थ्य सुख को भरता हूं।

यह तो हुआ हस्ताभिमर्श, अब अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं जो कि मार्जन या पुरश्चरण कहलाता है जिसे साधारणजन झाड़-फूँक के नाम से कहते हैं।

मार्जन या पुरश्चरण—

मार्जन या पुरश्चरण में जहां तक वैज्ञानिक सम्बन्ध है वहां तक तो वह ठीक है और शेष केवल ढोंग तथा मिथ्या है। मार्जन या पुरश्चरण के साधन पदार्थ जल, वस्त्र, कूर्च आदि हैं। इनके द्वारा मार्जन या पुरश्चरण के एक दो उदाहरण संक्षेप में यहां देते हैं।

जल से—

मस्तिष्क में चक्कर आने, अचेत हो जाने (बेहोशी) और सर्प काटे पर जल के छिड़के देने से लाभ होता है। यह

बात कोई मन्त्रविद्या या जादू की नहीं है किन्तु वैज्ञानिक है और आयुर्वेद के साथ सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक डाक्टर और वैद्य इसके साक्षी हैं। जो लोग इसे मन्त्रविद्या या जादू कहते हैं वे भ्रम में हैं। ऐसे लोग किसी साधु या महात्मा के हाथों से बेहोश हुए को जल छिड़के जाने पर होश में आजाना उसको मन्त्रविद्या या जादू समझते हैं। क्योंकि वे आयुर्वेद शास्त्र से अनभिज्ञ होते हैं उन्हें जल के गुणों, प्रभावों और जलचिकित्सा का ज्ञान नहीं। देखिये जल में मूर्च्छा अर्थात् बेहोशी आदि रोग हटाने के गुण आयुर्वेद में बतलाये हैं "पानीयं श्रमनाशनं क्लमहर मूर्च्छापिपासाहम्।" (भावप्रकाश निघण्टु)

वस्त्र से—

जल में भीगे मोटे वस्त्र का स्पर्श आंखों और सिर-दर्द तथा अचेतता को हितकर है। यहां तक तो ठीक है परन्तु किसी व्यक्ति को रुमाल मारकर जादू से अचेत कर देना अवैज्ञानिक है। रुमाल में कोई अचेत कर देने वाली गन्ध लगा देने से ऐसा हो जाता है।

कूर्च से—

कोई कोई रोग ऐसा होता है जो कि किन्हीं बालों के पुरश्चरण अर्थात् झाड़न, ब्रुश से दूर होते हैं। अतिप्राचीन काल से चमरमृग (चंवरी गौ) के पुच्छ की बालमञ्जरी का उपयोग चला आता है उसके स्पर्श से त्वचा के दोष, कृमियों के

संसर्ग से हुए हुए रोग दूर होते हैं, शरीर में ओज बल प्राप्त होता है। स्वयं अथर्ववेद में कहा भी है "यद्वर्म त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीवर्हेण विवृहामसि" (अथर्व० २।३३।७) कश्यप का अर्थ वैद्यक-शब्द-सिन्धु में मृग विशेष दिया है जो चमरमृग के लिए है "कश्यपः मृगविशेषः" (वैद्यकशब्दसिन्धुः) शरीर में पित्ति उछल आने पर जुलाहे के ताना संवारने वाले कूचे (ब्रुश) से पुनः पुनः अनुलोम स्पर्श से पित्ति दब जाती है। इसी प्रकार तृणों के पुरश्चरण झाड़ू से झाड़ने या स्पर्श से कई रोगों में लाभ होता है विशेषतः रक्तविकार के रोगों को। पर लोग इनको मन्त्र या जादू का प्रयोग समझते हैं। इनके द्वारा चिकित्सा करने वाले लोग अपना प्रभाव जमाने को कहते हैं कि हमने मन्त्र या जादू के बल से रोग को झाड़ दिया।

रोगों को दूसरों पर उतारने की समस्या—

कुछ लोगों का कथन है कि मार्जन से रोगी के रोग को दूसरे प्राणी और वनस्पति आदि पर उतारा जा सकता है ऐसा अथर्ववेद में दिया है। इसके सम्बन्ध में हमारा कहना कि इस विषय के समझने में जनता में कुछ भ्रान्ति है, क्योंकि वैज्ञानिक तथा आयुर्वैदिक नियमों के अनुसार मानना तो ठीक है परन्तु प्रतिकूल कल्पना मिथ्या है। यह वैज्ञानिक या आयुर्वैदिक या जीवनसृष्टि का नियम है कि मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर के अन्दर से निकला वायु जो कि उनके

लिए दूषित समझा जाता है वह वनस्पतियों के लिए अनुकूल है एवं वनस्पतियों से निकला वायु जो उनके लिए दूषित है, वह मनुष्य आदियों के लिए अनुकूल हैं। यदि मनुष्य आदि के उक्त दूषित वायु को वनस्पतियां न लें और वनस्पतियों के दूषित वायु को मनुष्य आदि ग्रहण न करें तो दोनों का जीवन स्वस्थ नहीं रह सकता। यह बात केवल वायु तक ही नहीं उनके मलों के भी परस्पर ग्रहण करने का व्यवहार है। मनुष्य आदि के मल मूत्र आदि वनस्पतियों के हितकर हैं। एवं वनस्पतियों के छाल, गोन्द, मद आदि दोष मनुष्य आदि के हितकर हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य आदियों के दोषों रोगों को वनस्पतियां अपनाती हैं और वनस्पतियों के दोषों को मनुष्य आदि अपनाते हैं। जब यह है तब मनुष्य आदि के रोगों का वनस्पतियों पर अवतरण होता है या वनस्पतियां उन रोगों को आकर्षित करती हैं और वनस्पतियों के रोगों का अवतरण मनुष्य आदियों पर होता है या मनुष्य आदि उन्हें अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस लिए मनुष्य आदि के रोगों का अवतरण वनस्पतियों पर होता है यह कोई मन्त्र या जादू की बात नहीं है। एवं मनुष्य आदि प्राणियों में भी परस्पर यही नियम है मनुष्यों के दोषों या रोगों को पशु पक्षी अपनाते हैं वे इनके लिए दोष या रोग नहीं किन्तु जीवन है। पशु पक्षियों के दोषों को मनुष्य अपनाते है उनके लिए वे दोष

नहीं किन्तु औषधरूप हैं। हां इसमें भी प्रत्येक वनस्पति मनुष्य के रोगों और दोषों को अपनावे या प्रत्येक वनस्पति या पशु पक्षी के दोष को मनुष्य अपनावे ऐसा नहीं; किन्तु जिस वनस्पति को मनुष्यादि का जो दोष अनुकूल होता है वही उसे अपनाता है एवं जिस वनस्पति या पशु या पक्षी का जो दोष जिस किसी मनुष्य को अनुकूल होता है वही अपनाता है। जैसे मनुष्य के क्षय रोग के दोषों या क्षय रोग से दूषित वायु को वनस्पतियों में चील (चीड़) का वृक्ष और पशुओं में बकरी तथा बन्दर अधिक अपनाते है। ऐसे ही मनुष्य के कामला (पीलिये) दोष को दारुहल्दी के वृक्ष और हरिये तोते आदि पक्षी अपनाते हैं। इत्यादि बातें वैज्ञानिक आयुर्वैदिक और जीवन-सृष्टि की विद्या के साथ सम्बन्ध रखती हैं कोई जादू नहीं है। यदि ऐसी बातें अथर्ववेद में आई हैं तो आश्चर्य ही क्या है। यहां हम उन दो-एक ऐसी बातों को दर्शाते भी हैं।

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि॥

(अथर्व० १। २२। ४)

अर्थ—(ते) हे रोगी ! तेरे (हरिमाणम्) हलीमक कामला रोग को (शुकेषु) शुकों–तोते पक्षियों। तथा (रोपणाकासु) सदा रोहण करने वाली हरी-भरी दूब के पौधों में (दध्मसि) धरते हैं (अथो) और (ते हरिमाणम्) तेरे

हलीमक कामला रोग को (हारिद्रवेषु) हरिद्रु वृक्ष अर्थात् दारुहल्दी के वृक्ष के समूह में "तस्य समूहः"-"अनुदात्तादेरञ्" (अष्टा० ४।२।३७,४४) (निदध्मसि) निहित करते हैं विलुप्त करते हैं।

हलीमक कामला के रोगी के पास तोते रहने चाहिएं उसे हरी हरी दूब घास में घुमाना, सैर कराना और बिठाना चाहिए। दारुहल्दी के जङ्गल में उसका निवास कुछ काल तक कराना अत्यन्त उपयोगी है। हरे रंग के तोते, हरी घास और दारुहल्दी के वृक्ष उसके हरियाले पीलिए कामले पाण्डु रंग का आकर्षण कर लेंगे ऐसा यहां मन्त्र में सूचित किया है। आयुर्वैदिक निघण्टु में दूब को 'रुहा' कहा भी है जो मन्त्र में दिए 'रोपणाका' का पर्याय है और इसे रक्तशुद्धि करने वाली जीवन देने वाली लिखा भी है "नीलदूर्वा तु मधुरा तिक्ता रुचिप्रदा। संजीवनी च तुवरा रक्तशुद्धिकरो मता।" हरिद्रु अर्थात् दारुहल्दी को राजनिघण्टु में अङ्गकान्ति करने वाली अर्थात् रक्त शोधक, रक्तवर्द्धक, पाण्डुता या पीलापन और हरापन नष्ट करने वाली बतलाया है "हरिद्रुः शीतलस्तिक्तो मङ्गल्यः पित्तवान्तिजित्। अङ्ग कान्तिकरो बल्यो नानात्वग्दोषनाशनः" (राजनिघण्टु ६। २७) इस प्रकार हलीमक कामला रोग वाले रोगी को हरिया (हरियाले) तोतों हरीदूब के स्थलों और दारुहल्दी के वृक्षों में निवास भ्रमण आदि द्वारा स्वस्थ करना कोई मन्त्र जादू से

रोग को उन पर उतारना नहीं कहा जा सकता किन्तु उक्तरोग को आकर्षित करना रोगी के शरीर से बाहर निकालना उनका गुण है।

तथा—

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा
यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो
वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥

(अथ० १।१२।३)

अर्थ—(शीर्षक्त्याः) उन्माद आदि शिरोरोग से (उत) तथा (यः) जो (वातजाः) वातप्रकोप से उत्पन्न वातिक (शुष्मः) शोषक पित्तप्रकोप से उत्पन्न पैत्तिक (च) और (यः) जो (अभ्रजाः) घनरूप कफप्रकोप से उत्पन्न श्लैष्मिक (कासः) खांसी रोग—क्षयरूप खांसी रोग (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घुसा हुआ है या घुस बैठता है, उससे (एनम्) इस रोगी को (मुञ्च) छुड़ा। वह रोगी (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (च) और (पर्वतान्) पर्वतों को (सचताम्) सेवन करें "षच सेचने सेवने च" (भ्वादिः)।

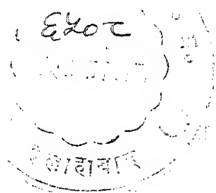
मन्त्र में बतलाया है कि उन्माद आदि शिरोरोग का रोगी और क्षय खांसी वाला रोगी वनों पर्वतों का सेवन

करे । आजकल उक्त रोगों के रोगियों को डाक्टर लोग वनों-पर्वतों में रहने की अनुमति देते भी हैं और वे वहां रह कर स्वस्थ हो जाते हैं यही बात वेद ने कही है। यह भी मन्त्र या जादू की बात कोई नहीं है।

विशेष—हमने उक्त अर्थ में 'सचताम्' क्रिया का कर्ता रोगी को बनाया है और वास्तव में रोगी ही उसका कर्ता है वह वनस्पतियों-वनों, पर्वतों को सेवन करता है प्रत्यक्ष भी ऐसा ही है। परन्तु सायणानुसार जो कोई भी रोग वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक हो वह वनस्पतियों और पर्वतों को प्राप्त हो– उनके अन्दर घुस जावे उनमें उतर जावे। ऐसा अन्वय और अर्थ करने में मन्त्र का 'शीर्षक्ति' और 'कास' रोग को पृथक् पढना निरर्थक हो जाता है क्योंकि ये दोनों रोग भी आजाते। "इदानीं वातपित्तश्लेष्मविकारजनितानां सर्वेषामपि व्याधीनां अस्मात्पुरुषादन्यत्रावस्थानं प्रार्थयते यो अभ्रजा इति" अतः 'यो अभ्रजा' आदि विशेषण कास रोग के हैं उसके साथ अन्वय करना चाहिए। पुनः अब दो रोग ही रहे 'शीर्षक्ति' (उन्माद आदि शिरोरोग) और 'कास' (क्षय खांसी) फिर 'मुञ्च' क्रिया का 'एनम्' पद रोगी वाचक शेष रह जाता है, उसके रोग से छूटने की विधि यह है कि वह रोगी वनस्पतियों वनों पर्वतों का सेवन करे उनमें रहे। यह शुद्धार्थ हुआ। कदाचित् मान लिया जावे कि रोग उन वनस्पतियों और पर्वतों को प्राप्त हो। इसका भी वही

तात्पर्य होगा जो हम मन्त्रार्थ में तथा उससे पूर्व बतला आए हैं कि वन के वनस्पतियों और पर्वत अर्थात् पर्वतीय ओषधियों में उक्त रोगों के दोषों के खींचने की शक्ति है। परन्तु एक बात यहां पर्वत शब्द के साथ होने से रोग का अवतरण पर्वत पर घटाना दुष्कर ही नहीं किन्तु असम्भव भी है क्योंकि वह निर्जीव जड़ है। पर्वत पर रोग का उतरना ऐसा समझना चाहिए जैसे पृथिवी जल वायु पर रोग को उतारना हो। उक्त पृथिवी वायु आदि में तो हर समय प्राणियों के रोग उतरते रहते ही हैं इसमें मन्त्र या जादू के यत्न की आवश्यकता ही क्या है। तात्स्थ्योपाधि से 'पर्वतीय-ओषधियां' अर्थ लेने में बात एक ही है जैसा कि पूर्व बतलाया जा चुका है परन्तु यहां तो वही अर्थ शुद्ध है जो हमने किया है। इसलिए मन्त्र या जादू की बात यहां कुछ भी नहीं है केवल वही आयुर्वैदिक सिद्धान्त की बात है॥ अस्तु॥





चतुर्थ पटल

आदेशविद्या या संवशीकरण

सबल और सफल आश्वासन या उपदेश का नाम आदेश है जिसका कि पात्र पर प्रभाव अनिवार्य हो। आदेश द्वारा किसी रोगी के रोग को दूर करना उसके अन्दर स्वास्थ्य को लाना, किसी दुर्व्यसनी या पापी के दोषों को हटाना और उसके अन्दर सद्‌गुणों को लाना ओजबल एवं वीरता को प्रविष्ट कराना आदि होता है। आदेश से प्रायः सभी रोगों में लाभ होता है परन्तु विशेषतः मानसिक रोगों एवं शारीरिक स्थायी, चेत्रिय, क्षय, पाण्डु तथा मस्तक के रोगों में अतीव लाभ होता है। आदेश के अन्दर प्रयोजक (प्रयोग करने वाले) की वाणी और मन काम करते हैं और इन दोनों

के द्वारा पात्र (प्रयोग जिस पर हो उस) के मनपर प्रभाव प्रथम पड़ता है, मन समस्त शरीर, प्राणों-प्राणाशयों और इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली विद्युत्-शक्ति है। मन प्रभावित हुआ स्वानुकूल स्वशक्ति से इन सबको चेष्टायमान करता है। पुनः शीघ्र या धीरे धीरे साधनानुसार अभीष्ट परिणाम का साधक हो जाता है। अथर्व वेद में इन सब विधियों, प्रयोगस्थलों और परिणामों का वर्णन है। यहां कुछ मन्त्रों द्वारा इस विषय पर सक्रम प्रकाश डालते हैं। हम पीछे 'अभिमर्श और मार्जन' प्रकरण में एक मन्त्र लिख आए हैं जिसमें हाथों के अभिमर्श (स्पर्श) द्वारा किसी के शरीर पर प्रभाव डालना बतला आए हैं उसी मन्त्र में आदेश देकर प्रभाव डालना भी दिया है, वहां मन्त्र में स्पष्ट कहा है ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि ॥
(अथर्व० ४ । १३ । ७)

मन्त्र में जहां यह कहा है कि मैं रोग दूर करने वाले हाथों से तुझे अभिमर्श (स्पर्श) करता हूं या तुझ पर अभिमर्श करता हूं वहां साथ में "जिह्वा वाचः पुरोगवी" मेरी जिह्वा भी वाणियों-आदेशों को अग्रसर करने वाली है। उस जिह्वा से या उन वाणियों आदेशों से भी तुझे स्वस्थ और स्वच्छ करता हूं । यह तो हुआ प्रयोजक की वाणी का प्रभाव पात्र पर

डालना तथा प्रयोजक के मन का प्रभाव भी पात्र पर पड़ता है। वाणी से आदेश तो दिया ही जाता है परन्तु साथ में प्रयोजक-द्वारा मन के अन्दर रोगी के रोग एवं दोष दूर करने, उसे स्वस्थ एवं स्वच्छ बनाने के लिये सङ्कल्पप्रधानता अर्थात् आन्तरिक सद्भाव हितचिन्तन और हार्दिक इच्छासे आदेश देने की आवश्यकता है। इस प्रकार प्रयोजक के मन का पात्र के ऊपर प्रभाव पड़ता है ऐसा वेद में कहा है। पात्र के ऊपर प्रभाव डालने के लिये प्रथम उसके मन को अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए ऐसा वेद में लिखा है और उसके लिये पात्र के प्रति कहा है कि—

यद्वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद्व आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥
(अथर्व० ७। १२। ४)

अर्थ—(यद् वो मनः परागतम्) हे प्यारे पात्र ! जो तुम्हारा मन कहीं दूर की सोच रहा हो (यद् इह वा-इह वा बद्धम्) या इधर उधर वासना आदि में बन्धा हुआ हो (तद् वः-आवर्तयामसि) उस तुम्हारे मन को मैं अपनी ओर लाता हूं (वो मनो मयि रमताम्) तुम्हारा मन मेरे में रमण करे-मेरी ओर रहे कि मैं क्या करता हूं ॥

जिस व्यक्ति पर प्रयोग करना हो प्रयोजक उसे अपने सम्मुख शान्ति से आराम से बिठलाकर कहे कि तुम

अपने मन को इधर उधर से हटाकर निश्चिन्त हो मेरी ओर ध्यान रखो, मैं जो हितकर सङ्कल्प अपने मन में लाऊंगा तुम्हारा मन उधर लगेगा, निश्चय मैं तुम्हारे मन को अपनी ओर आकर्षित करता हूं अब तुम्हारा मन मेरे ऊपर निर्भर रहेगा।

तथा—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनु वर्त्मान एत॥
(अथर्व० ३।८।६)

अर्थ—(अहं मनसा मनांसि गृभ्णाभि) हे पात्र! मैं अपने मन से तुम्हारे मन को अपनाता हूं—स्वानुकूल बनाता हूं (मम चित्तमनु चितेभिः-एत) मेरे चित्त के अनुकुल अपने चित्त से चलो—मेरी विचारधारा के अधीन अपनी विचारधारा करो (मम वशेषु वः-हृदयानि कृणोमि) मैं अपने वश में तुम्हारे हृदय को करता हूं (मम यातमनु वर्त्मान एत) अब मेरे बतलाए मार्ग पर चलोगे॥

हे प्यारे पात्र! देखो तुम्हारा मन अब मेरे अधीन हो गया मैंने तुम्हारी विचारधारा को अपने अनुकूल कर लिया उसे रोक लिया और तुम्हारा हृदय भी मेरे वश में होगया। बस अब तुम्हारे इस शरीर और मन पर तुम्हारा अधिकार नहीं रहा किन्तु मेरा पूरा अधिकार हो गया। अतएव तुम्हारा शरीर शिथिल हो गया और मन भी निश्चेष्ट हो गया। इस लिये तुम शान्ति

और विश्राम की स्थिति में होने के समान हो गए। सचमुच तुम सुषुप्ति की ओर जाते हुए से निश्चल हो गए परन्तु मेरे आदेश को सुनते हुए उनका अपने अन्दर प्रवेश करोगे उसके अनुसार अपने जीवन को बनाओगे। तुम सच्चे पात्र हो तुम अवश्य उन पर चलोगे। हाँ सुनो—

मानसिक दोष दूर करने का आदेश—

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ २॥

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव॥ ३॥

(अथर्व० ६। १८। १-३)

(ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिम्) ईर्ष्या-डाह की प्रथम तरङ्ग-लहर वेग को (उत) तथा (प्रथमस्या अपराम्) प्रथम तरङ्ग-लहर से अगली तरङ्ग लहर या वेग को जो कि (ते) हे प्यारे पात्र! तेरे (हृदय्यं शोकमग्निं तम्) हृदय में स्थित जलती हुई अग्नि है उसको (निर्वापयामसि) शान्त करता हूं। क्योंकि—

(यथाभूमिर्मृतमनाः) जैसे भूमि मरे मन की है–जड़ है (मृतात्-मृतमनस्तरा) अपितु मरे जीव से–मुर्दा देह से अधिक मरे मन वाली अत्यन्त मुर्दा जड़ है (उत) तथा (यथा मम्रुषो मनः) जैसे मर चुके जीवका मन अभावत्व को प्राप्त हो जाता है (एव) ऐसे ही (ईर्ष्योः) ईर्ष्यालु ईर्ष्याशील मनुष्य का (मनः) मन (मृतम्) मर जाता है मरा हुआ हो जाता है अभावरूप को या जड़ता को प्राप्त हो जाता है ॥ अत एव—

(ते) हे प्यारे पात्र ! तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) स्थित (अदः-यत्) वह जो (पतयिष्णुकम्) पतन-शील-व्यग्र-चंचल-अशान्त (मनस्कम्) दयनीय मन है (ततः) उससे (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या-डाह को (दृतेः–ऊष्माणमिव) चमड़े की धोंकनी से फूंक की भांति (निर्मुञ्चामि) निर्मुक्त करता हूं—बाहर निलकता हूं ॥

इन तीन मन्त्रों में ईर्ष्या को दूर करने का आदेश दिया है। वह इस प्रकार कि पूर्व मन्त्रों के अनुसार पात्र को सम्मुख बिठला कर आश्वासन के साथ उसके मन को अपनी ओर आकर्षित करके तथा स्वाधीन और अनुकूल बनाकर सर्वथा शान्त सोए हुए जैसी अवस्था में लाकर उपर्युक्त ईर्ष्या दूर करने का आदेश दे कि "मेरे प्यारे पुत्र आदि पात्र ! तुम्हारे अन्दर जो ईर्ष्या है—दूसरों की उन्नति समृद्धि देखकर जलना

द्वेष करना है यह बहुत बुरा है हृदय के अन्दर यह धधकती अग्नि है तुम्हारे हृदय, जीवनरस, रक्त, और शरीर को जलाने वाली है इसे मैं बुझाता हूं बुझा रहा हूं अब तुम्हारे अन्दर वह फिर न सुलगेगी तुम फिर कभी इसे सुलगाने का यत्न न करना यह ईर्ष्यारूप अग्नि मन को भी भस्म बना देती है उसकी शक्ति को नष्ट कर देती है पुनः वह मनुष्य जड़ पदार्थ या मुर्दे जैसा विचारहीन हो जाता है। वह हृदय में रखा मन अपनी शक्ति से युक्त रहे अतएव मैं तुम्हारे मन के अन्दर से इस ईर्ष्या को बाहर निकालता हूं और ऐसी सुगमता से कि जैसे चाम की धौंकनी से भरी फूंक जरा दबाने से बाहर निकल जाती है। निश्चय रखो मैं तुम्हारी ईर्ष्या को बाहर निकाल रहा हूं—वह निकल रही है—वह समय शीघ्र आवेगा जबकि सर्वथा बाहर निकल जावेगी। तुम स्वयं अनुभव करोगे कि वह बाहर निकल रही है। जब तुम देखोगे कि तुम्हारा मन शान्त प्रसन्न और मस्तिष्क उष्णता से रहित ठण्डा हलका तथा हृदय घबराहट से पृथक् हलका स्वस्थ और स्वच्छ है। इस प्रकार प्रतिदिन तुम अपने को ईर्ष्या-अग्नि से अधिकाधिक अलग पाओगे"। ऐसे सायं प्रातः प्रतिदिन शान्त समय और एकान्त स्थान में पात्र को आदेश देने से अत्यन्त लाभ होता है। मानसिक दोषों को दूर करने के सम्बन्ध में वेद का यह आदेश एक उदाहरण मात्र है इसी

प्रकार अन्य दोषों को आदेशों से दूर किया जा सकता है ॥

उन्माद रोग के लिये आदेश—

अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोससि ॥
(अथर्व० ६ । १११ । २)

अर्थ—(यदि ते मन उद्युतम्) हे प्यारे पात्र ! यदि तेरा मन उच्चाट हो गया उखड़ गया है—अव्यवस्थित हो गया है तो (अग्निः-ते निशमयतु) अग्नि उसे बिल्कुल शान्त और ठीक कर देगा (यथाऽनुन्मदितोऽससि) जिस प्रकार कि तू उन्माद रहित हो जावे । इस प्रकार (विद्वान् भेषजं कृणोमि) सब जानते हुए चिकित्सा इलाज करता हूं ।

इस मन्त्र में उन्माद रोग के रोगी को आदेश दिया है । उन्माद रोग दो प्रकार का होता है एक शान्त दूसरा प्रलाप-वाला । मस्तिष्क के आन्तरिक तन्तु जब विशेष कफलिप्त या जड़ हो जाते हैं तब मन मूढ होकर शान्त उन्माद को उत्पन्न करता है इसे आयुर्वैदिक परिभाषा में उन्माद या शान्त उन्माद कहते हैं और जब मस्तिष्क में वातपित्त-प्रकोप से तन्तु क्षुब्ध या दग्ध हो जाते हैं तब मन क्षिप्त विक्षिप्त और भ्रम-युक्त होकर प्रलापोन्माद को उत्पन्न करता है इसे आयुर्वैदिक परिभाषा में भ्रमोद्वेग तथा भूतोन्माद कहते हैं । इस भ्रम-जन्य

उन्माद में भ्रम से रोगी अपने अन्दर विषम बातों को अनुभव करता है या पुरातन मिथ्याविश्वास के संस्कारों से भिन्न भिन्न विकट स्थितियों की कल्पनाएं अपने अन्दर कर लेता है और मैं भूत, प्रेत, चुड़ैल, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा आदि हूं ऐसा प्रलाप करने लगता है। ऐसा उन्माद अग्नि में लाल-मिर्च, राई, सरसों, वायविडङ्ग, हींग, लशुन आदि चरपरी और तीक्ष्ण ओषधि को डालकर धूंआ सुंघाने से दूर हो जाता है क्योंकि उस चरपरे और तीक्ष्ण धूंए से मस्तिष्क के तन्तुओं में उसकी परिस्थिति से विपरीत गति और सचेतता मिलती है। मस्तिष्क में उस भूत आदि के भ्रम या कल्पना का अनवसर या अभाव हो जाता है पुनः तुरन्त आदेश साथ में देने से रोगी अनुभव करता है कि उन्माद-चिकित्सक के प्रभाव से उन्माद दूर हुआ है यह विश्वास हो जाने से पुनः वह उन्माद चला जाता है। इसी प्रकार शान्त उन्माद रोग में अग्नि के अन्दर सात्विक गन्ध वाले कपूर, चन्दन, तुलसी या तुलसीबीज अथवा सुगन्ध होम करके धूंआ सुंघाने से रोगी के मस्तिष्क के तन्तुओं में विकास जागृति और प्रसाद आता है, पुनः वह स्वस्थ हो जाता है। दोनों प्रकार के उन्माद रोगी तब अपने मन और मस्तिष्क तन्तुओं को सचेत स्वस्थ प्रसन्न अवस्था में अनुभव करते हैं साथ ही चिकित्सक को आदेश देते हुए देखकर अपने को उसके आदेश से अच्छा

हुआ समझते हैं पुनः पुनः आदेश से अपने को उत्तरोत्तर उस उन्माद रोग से रहित स्वस्थ अनुभव करते जाते हैं। हमने भी इस विधि से कई एक उन्माद रोगियों को स्वस्थ किया है इस विधि में कोई मन्त्र या जादू की बात कुछ भी नहीं है। अन्य उन्माद चिकित्सक ऐसा प्रसिद्ध करते हैं कि हम मन्त्र पढ़ या जादू करके तुम्हारे उन्माद और भूत आदि को दूर करते हैं केवल यह उन्माद रोगी को विश्वास दिलाने मात्र की बात है। वास्तव में उन्माद रोग के दूर होने का कारण है अग्नि में ओषधिधूप और आश्वासन। ऐसे रोगों में मन्त्रानुसार इस प्रकार आश्वासन देना चाहिये कि "हे प्यारे पात्र ! अग्नि देवता तुम्हारे रोग को शान्त कर रहा है उस भूत प्रेतादि का शमन कर रहा है। मैं भी उन्माद को दूर करने भूत भगाने में कुशल हूं उस उन्माद रोग और भूत आदि का दमन तथा उसे अग्नि में भस्म कर रहा हूं तुझे अच्छा कर रहा हूं, उस भूत आदि को भगा रहा हूं। बस तुम अब अच्छे हो रहे हो बहुत कुछ अच्छे हो गए हो बस अब बिल्कुल अच्छे हो गए भूत प्रेत भाग गया भगा दिया, जल गया उसे जला दिया अग्नि में भस्मीभूत हो गया उसे भस्म कर दिया। उठो जाओ अब कभी फिर न आवेगा सदा के लिये उससे तुम छूट गए"। यहां अग्नि से उन्माद के दूर होने का साधन अग्नि अर्थात् अग्नि में होम करना धूप देना है जो इससे पूर्व के मन्त्र में स्पष्ट है "इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति । अतोधि ते

कृणवद् भागधेयं यथानुन्मदितोऽसति ॥" हे अग्नि ! यह जो उन्मादी पुरुष सुनियन्त्रित और बन्धा हुआ भी प्रलाप करता है इसे तू उन्माद रोग से छुड़ा अतएव तेरे अन्दर 'भागधेय' आहुति देते हैं होम करते हैं—धूप डालते हैं जिससे यह उन्माद रहित हो जावे ॥

यक्ष्मज्वर-क्षय रोग दूर करने के लिए आदेश—

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ॥ ७ ॥
मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥
अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥
इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥
(अथर्व० । ५ । ३० । ७-९, १६

अर्थ—(अनुहूतः) हे प्यारे रोगी ! तू मेरे द्वारा आमन्त्रित हुआ-मेरी ओर आकर्षित हुआ-मेरे आदेशानुकूल बन (विद्वान्) समझदार होता हुआ (पथः-उदयनम्) जीवन पथ के उदय को-स्वास्थ्य को (पुनः-एहि) फिर प्राप्त कर और (आरोहणम्-आक्रमणम्) उस जीवन पथ के आरोहण

अवलम्बन तथा आक्रमण आगे बढ़ने को भी प्राप्त हो। यही (जीवतो जीवतः-अयनम्) प्रत्येक जीवित रहने वाले का आश्रय है-लक्षण है।

(मा बिभेः) न डर (न मरिष्यसि) नहीं मरेगा-नहीं मर सकता (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) तुझे जरावस्थापर्यन्त जीने वाला–बुढापे तक जीने वाला–पूर्णायु तक जीने वाला करता हूं (तव-अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों से (अङ्गज्वरं यक्ष्मम्) अङ्गों को पीड़ित करने वाले यक्ष्म रोग–क्षय रोग को (अहं निरवोचम्) मैं निराकृत–निवृत्त करता हूं ।

(यश्च) और जो (अङ्गभेदः) अङ्गों को तोड़ने वाला (अङ्गज्वरः) अङ्गों में ज्वर करने वाला (हृदयामयः) फेफड़ेसहित हृदय को रोगी बनाने वाला–विकृत करने वाला है। वह (ते यक्ष्मः) तेरा यक्ष्मरोग क्षय (वाचा परस्तरां साढः) मेरी वाणी से–आदेश से अत्यन्त तिरस्कृत हुआ–ताडित हुआ (श्येन इव प्रापप्तत्) बाज पक्षी की भांति–बाज या चील निशाने से ताडित किया हुआ जैसे नीचे गिर पड़ता है ऐसे ही तेरा क्षय रोग रुग्ण स्थान या शरीर से बाहर गिर पड़ता है छिन्न भिन्न होजाता है–नष्ट हो जाता है।

(इयं बद्धा पनिष्पदा जिह्वा) यह सुनियन्त्रित–मित भाषण और सत्यभाषण में संयमित तथा विद्युत् की भांति

पुनः पुनः स्पन्दन करती हुई लहरें फेंकती हुई मेरी वाणी (अन्तर्वदति) अन्दर से कह रही है—भीतर से बोल रही है कि (त्वया) तुझ चिकित्सक से प्रेरित की हुई अथवा तुझ रोगी से 'विभक्ति व्यत्ययः' (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को (निरवोचम्) निराकृत निवृत्त कर देती हूं। तथा (तक्मनः शतं रोपीश्च) रोग के सैकड़ों और सहज रोगाङ्कुरों-उपद्रवों को भी निराकृत कर देती हूं—हटा देती हूं।

यक्ष्मा या क्षयरोग होने पर फेफड़ों में दर्द रहता है, अङ्ग अङ्ग में ज्वर और हृदय में घबराहट होती है, हृदय में रक्त के जीवन कणों का क्षय होता रहता है जीवन की आशा मरती रहती है। इसी यक्ष्मा या क्षयरोग के लिए मन्त्रों में आदेश द्वारा चिकित्सा करने का विधान है। यहां आदेश में शक्ति कैसे आती है इसका भी प्रतिपादन है "इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा" मितभाषण गम्भीरता से तथा सत्य भाषण से संयमित वाणी हार्दिक भावों से प्रेरित—मानसिक सङ्कल्पों से पुष्ट हुई रोगी के रोग दूर करने की प्रबल आन्तरिक भावना से परिपूर्ण वाणी द्वारा आदेश चिकित्सक दे कि "हे प्यारे ! तू मेरी ओर आकर्षित हुआ हुआ समझ के साथ अपने जीवन-मार्ग के उदय को अनुभव कर, स्थिरता से जीवनयात्रा में आगे बढ़, बस जीवन का लक्षण यही है। हे प्यारे ! तू भय मत कर, भय की कोई बात नहीं तू मर नहीं सकता, तू मेरे

हाथों में आगया है मैं तुझे पूर्ण आयु तक ले जाऊंगा-तेरे अन्दर से इस यक्ष्मा या क्षयरोग को मैं निःसन्देह बाहर निकाल दूंगा। मेरे अन्दर से यह आवाज आरही है कि तुम इस रोग से निर्मुक्त हो जाओगे बिल्कुल मुक्त हो जाओगे। मैं इसे दूर कर रहा हूं-यह दूर हो रहा है। अब तुम्हारे रक्त के जीवन कण बढ़ने आरम्भ होगए और दिनों दिन बढ़ते जावेंगे अतः शरीर का भार भी बढ़ता जावेगा। रक्त के जीवन-कणों एवं शरीरभार की वृद्धि का प्रारम्भ ही क्षय रोग के नष्ट होने की सूचना है। क्षय रोग दूर तभी होता है जबकि जीवित रहने के विचार बलवान् होते हैं तुम्हारे अन्दर जीवित रहने के विचार प्रबल रूप में होते जावेंगे और तुम बस अब बिल्कुल स्वस्थ हो जाओगे" तुम जीवनवान् पुष्ट हाथी आदि प्राणी या सुपुष्ट बलवान् मनुष्य का सामने आदर्श रखो। पुनः-पुनः उसका दर्शन करो इसी प्रकार हरे भरे पौधों को और जीवनमय कान्तिवाले प्राणियों को क्रीड़ा तथा आमोद प्रमोद करते देखो। जीवनमय उद्यान, उपवन, जङ्गल और पर्वतों का सेवन करो तुम्हारी जीवन शक्ति ऐसा करने से दिनों दिन बढ़ती जावेगी तुम्हारे अन्दर यह विचार अब बढ़ते रहने चाहिएं कि 'मैं स्वस्थ हो रहा हूं' पुनः शीघ्र ही तुम स्वस्थ हो जाओगे।

मृत्यु से उभरने का आदेश—

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि

शतशारदाय । अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं
द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥

(अथर्व० ८ । २ । २)

अर्थ—(जीवतां ज्योतिः-अभ्येहि) हे प्यारे ! तू जीनेवालों की ज्योति को प्राप्त हो (त्वा शतशारदाय-अर्वाङ् आहरामि) तुझे सौ वर्ष तक जीवित रखने के लिए इधर इसी लोक में ले आता हूं (मृत्युपाशान्-अशस्तिम्-अवमुञ्चन्) मृत्यु के पाशों को तथा मन की अशस्त भावना को छुड़ाता हुआ (ते प्रतरं द्राघीयः-आयुः-दधामि) तेरे लिए उत्कृष्ट दीर्घ आयु को धारण करता हूं ।

इस मन्त्र में रोगी को रोग से विमुक्ति और जीवित रहने का आदेश दिया है कि "हे प्यारे रोगी ! तू जीने वालों की ज्योति को प्राप्त कर–जीने वालों की भांति जीवन कान्ति और उत्साह को धारण कर । मैं चिकित्सक तुझे पूर्ण आयु तक जीवित रहने के लिए अपने अधिकार में ले आया। प्यारे पात्र! चिन्ता या भय की कोई बात नहीं, मैं समस्त रोगों और तुम्हारे अन्दर की निराशा आदि भावनाओं को दूर करता हूं तुम्हारे अन्दर दीर्घ जीवन की शक्ति डालता हूं । निश्चय रखो अब तुम दिनों दिन दीर्घ जीवन की ओर चलोगे ।"

तथा—

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥
उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥
(अथर्व० ८ । १ । ३, ६)

अर्थ—(इह ते-असुः) हे प्यारे रोगी ! तेरा श्वास उच्छ्वासरूप प्राण इस देह में रहे (इह प्राणः) इस देह में प्राणशक्ति रहे (इह आयुः) इस देह में पूर्ण आयु रहे (इह ते मनः) इस देह में मन रहे (त्वा) तुझे (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) जीवन की अरमणीयता के बन्धनों से-जीवननिराशा के भावों से "निर्ऋतिनिरमणाद्दच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा" (निरु० २ । ७) (दैव्या वाचा-उद्भरामसि) दैवी वाणी-सत्यवाणी-प्रभावकारी आदेश से उभारते हैं—ऊपर करते हैं—छुड़ाते हैं । "सत्यमेव देवाः" (श० १ । १ । १ । ४) ॥ ३ ॥

(पुरुष) हे प्यारे रोगी मनुष्य ! (उद्यानं ते न-अवयानम्) बस अब तेरा—तेरे स्वास्थ्य का उदय उत्थान है ह्रास या पतन नहीं । (जीवातुं दक्षतातिं ते कृणोमि) तेरे लिये जीवनदेनेवाले और बल करने-बलबढ़ाने वाले उपाय को मैं कर रहा हूं (इमं-अमृतं सुखं रथम्) इस न मरने योग्य

अभी जीवित रहनेवाले सुखसाधक शरीररथ पर "शरीरं रथमेव तु" (कठोर० ३ । ३) "रथः शरीरम्" (मैत्र्युप० २ । ६) (हि-आरोह) अवश्य चढ़ा रह (अथ) पुनः (जिर्विः) वृद्ध बूढ़ा होता हुआ (विदथम्-आवदासि) अपने जीवनानुभव को घोषित कर ॥ ६ ॥

इन मन्त्रों में इस आशय का आदेश रोगी को देने का विधान है कि "हे प्यारे रोगी ! तू स्मरण रख इसी शरीर में तू स्वस्थ और प्रसन्न रहता हुआ पूर्णायु को भोगेगा मैं तुझे जीवननिराशा की ग्रन्थियों और उलझनों में से अपने सत्य आदेश द्वारा निकाल रहा हूं । तू निश्चय रख और देख अब से तेरे स्वास्थ्य का उदय ही उदय हो रहा है मैं तेरे अन्दर जीवनशक्ति को डाल रहा हूं और बल भी दे रहा हूं बस अब तू इस शरीर पर पूर्ण आधिपत्य और अधिकार रखता हुआ बुढ़ापे तक जीवन के अनुभव का लाभ प्राप्त करेगा क्योंकि तेरे शरीर में अब कोई दोष नहीं रहेगा जो तुझे हानि पहुंचा सके" ॥

वीरता के लिये आदेश—

वृषा ह्यसि राधसे जज्ञिषे वृष्णि ते शवः ।
स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम् ॥

(ऋ० ५ । ३५ । ४)

अर्थ—(इन्द्र वृषा हि-असि) ओ वीर ! या हे राजन् ! तू सचमुच साण्ड है—साण्ड के समान गर्जने वाला, आक्रमणकारी और प्रतापी है (राधसे जज्ञिषे) समाज तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिये तू जन्मा है (ते शवः-वृष्णि) तेरा निज बल तथा सैन्यबल वर्षाप्रपात के समान शत्रु पर प्रपतनशील है (ते मनः) तेरा मन (स्वक्षत्रं धृषत्) स्वकीय क्षात्र-बल का अभिमानी और धर्षणशील है (पौंस्यं सत्राहम्) और तेरा पौरुष साहस शत्रुओं का हननकर्ता है।

समाज या राष्ट्र के रणक्षेत्र में आनेवाले वीर या राजा को मन्त्रानुसार आदेश देना चाहिए कि "हे वीर पुरुष ! या राजन्। तू अपने को सबल समझ साण्ड जैसा बलवान् प्रभावशाली समझ, वास्तव में तू महाबलवान् है बड़ा प्रतापी और शूरवीर है तू समाज तथा राष्ट्र की समृद्धि और अभ्युदय के लिए जन्मा है तेरी शूरवीरता जाति और देश के उठाने के लिए है, तू शत्रु पर सबल और सफल आक्रमणकारी है शत्रु पर तेरे बल का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता, निज क्षात्र-बल और क्षात्रधर्म का अभिमानी है देश तथा राष्ट्र के हित तेरा सर्वस्व है, तेरे अन्दर शत्रु-हनन का साहस है शत्रु पर विजय पाने का साहस है निश्चय तू सदा जिष्णु-जयशील है किसी भी रणक्षेत्र में विजय पाना तेरे लिए अवश्यम्भावी है" इत्यादि।

सर्पदष्टविषनाशन के लिये आदेश—

सॉंप के काट लेने पर विष नष्ट करने के आदेश को मन्त्र कहा जाता है और मन्त्र नाम है गुप्त रहस्यमय विचार का। सर्वसाधारण जिस सिद्धान्त को न समझ सके वही मन्त्र या मन्त्रविद्या है, वास्तव में वह एक आश्वासन है। जिसको सर्प ने काट लिया उस व्यक्ति को आश्वासन देना ही मन्त्र है और आश्वासन का सफल ढंग ही आश्वासनविद्या या मन्त्रविद्या है। "चरक" ग्रन्थ में भी ऐसी स्थिति में आश्वासन देना बतलाया है।

दुरन्धकारे दष्टस्य केनचिद् विषशङ्कया।
विषोद्वेगाद् ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽथ वा भवेत्॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वाप्येतच्छङ्काविषं मतम्।
चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासनं बुधः॥
(चरक। विषचिकित्सा। अ० २३। २१८-२१९)

घने अन्धकार में किसी जन्तु के काट लेने पर सर्प के काटने की शङ्का हो जाने से उस व्यक्ति को ज्वर, वमन, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि, मोह, दस्त ये सर्पदष्ट के उपद्रव हो जाते हैं*। इसकी चिकित्सा आश्वासन है। ऐसे रोगी को बुद्धिमान्-जन विविध आश्वासन दें, यह चरककार का कथन है। परन्तु

* यह शङ्काविष कहलाता है।

वेद इससे भी आगे बढ़ा हुआ है, वेद तो सर्प के काटे से भी मरना नहीं मानता, वेद कहता है कि "भियसा नेशत्" (अथर्व० ५ । १३ । २) सांप का काटा भय से मरता है । वेद का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसमें कारण भी है क्योंकि प्रथम-सर्पविष की मीमांसा करने से सभी सर्पाचार्यों का कथन है कि प्रतिशत पचास सर्प तो विना विष के हैं उनके काटने से मरने का कोई प्रसङ्ग नहीं यदि मरता है तो भय से मरता है। सर्प के नाम से ही लोग भय खाते हैं। पचास विष वालों में भी पच्चीस अल्पविष के हैं उनके काटने से भी मनुष्य नहीं मर सकता यदि मरते हैं तो भय से। शेष पच्चीस में भी महाविष के सर्प आधे हैं (साढे बारह) और फिर इनमें बच्चे, अतिवृद्ध, रोगी, कृश, केंचुली छोडते हुए, डरे हुए, नेवले से पछाडे हुए, जल के ताड़े हुए का अल्पविष होता है[1]। अब तो और भी कम महाविष के सर्प रह गए जो साढ़े बारह में अधिक से अधिक छः हुए। फिर इनके भी दष्ट (डंक-घाव) तीन प्रकार के होते हैं "सर्पित (सर्पदष्ट विष के पूर्ण लक्षणों वाला) रदित (सर्पदष्ट विष के अल्प लक्षणों वाला)

---

१ "तथातिवृद्धबालाभिदष्टमल्पविषं स्मृतम् ।
नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः ॥
वृद्धा मुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषाः ॥
(सुश्रुत) कल्प० । ४ । १९, ३२)

सर्पाङ्गाभिहत (सर्प के अङ्गों से स्पर्श हुआ या घिसा हुआ मात्र)" ये तीन होते हैं, तब तो महाविष सर्पों के काटे के महाविषस्थान छः में दो ही रहे इस विचार से तो सर्पों के काटे हुए सौ में दो ही अधिक से अधिक मरने चाहिएं परन्तु इनका भी तुरन्त बन्धन आदि उपचार हो जावे तो ये भी नहीं मर सकते यदि मरते हैं तो भय से ही मरते हैं और वेद में तो इन दो को भी चाहे बन्धन न भी बान्धा हो, "भियसा नेशत्" भय से ही मरते हैं ऐसा कहा है। जब यह बात है तब आश्वासन चिकित्सा करना अत्यावश्यक है और रोगी मरने से बच जाता है। आश्वासन तो डूबते हुए तक को भी बचा लेता है ऐसा संसार में देखने में आता है किसी डूबते हुए को किसी कुशल अच्छे तैरने वाले की ओर से जब आश्वासन मिलता है कि "मैं आगया हूं तुझे डूबने न दूंगा घबरा नहीं सम्भल, मैं कदापि न डूबने दूंगा—" तब इस डूबने वाले के अन्दर एक बिजली सी दौड़ कर उसमें हाथ, पांव मारने की शक्ति आ जाती है और वह डूबने से बच जाता है। अतएव वेद सर्पदष्टविष वाले मनुष्य को मरने से बचने का आदेश देने का विधान करता है।

> ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रै-
> र्निरिणामि ते विषम्। खातमखातं सक्तम-
> ग्रभमिरेव धन्वन्निजजास ते विषम् ॥
>
> (अथ० ५ । १३ । १)

अर्थ—(वरुणो दिवः कविः) वरनेवाले जगत् के धारक वेद वाणी के कवि परमात्मा ने (मह्यम्)[1] मेरे में (ददिः-हि) निश्चय ऐसा भारी तेज दिया है कि (उग्रैर्वचोभिः) उग्र वचनों से (ते विषम्) तेरे विष को (निरिणामि) मैं निकालता हूं–दूर करता हूं–शक्तिहीन करता हूं। तथा (खातम्) सर्पदान्तों के गहरे घाव को[2] (अखातम्) गहरे नहीं किन्तु सर्पदान्तों के चिह्नरूप को[3] (उत) तथा (सक्तम्) सर्प से सम्पृक्त–स्पर्श प्रभावमात्र को[4] (अग्रभम्) मुझ सर्पविष-चिकित्सक ने स्ववश कर लिया है, अब (ते विषम्) तेरा विष (इरा-इव धन्वन्) मरुस्थली-रेतीले स्थान में पड़े जल की भांति (निजजास) विनष्ट हो जाता है।

इस मन्त्र में तीन बातों का वर्णन है जिसमें एक तो सर्पदष्ट (घावों) के तीन भेद खात (गहरा) अखात (कम घाव) सक्त (स्पर्शमात्र) दूसरे आश्वासनचिकित्सा में अपना आदर्श विषनाशक शक्ति देने वाला तेजस्वी परमात्मा तीसरे मुख्य बात "वचोभिरुग्रैर्निरिणामि ते विषम्"

१ "वागिति द्यौः" (जै० उ० ४ । १२ । ११)

२ सर्पित को।

३ रदित को।

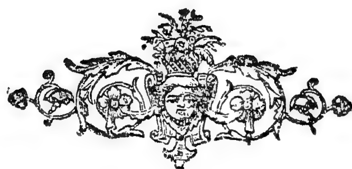
४ सर्पाङ्गाभिहत को।

उग्र प्रभाव पूर्ण वचनों से तेरे विष को निर्बल करता हूं। और "इरेव धन्वन् निजजास ते विषम्" वह विष मरुस्थली में गिरे जल के समान निकम्मा हो गया। अर्थात् मैंने परमात्मा से बहुत तेज प्राप्त किया हुआ है मेरे सामने तेरे सर्प काटे का गहरा विष भी कुछ नहीं मैंने इसे स्वाधीन कर लिया है और अपने प्रभावशाली वचनों से तेरा विष निर्बल कर रहा हूं दूर कर रहा हूं नष्ट कर रहा हूं, वह निर्बल हो रहा है नष्ट हो रहा अवश्य नष्ट हो रहा है, अब निर्बल हो गया दूर हो गया सर्वथा निर्बल हो गया, सर्वथा दूर हो गया और सर्वथा नष्ट हो गया, अब नहीं रहा-नहीं रहा, मरुभूमि में गिरे जल की भांति नष्ट हो गया-सर्वथा नष्ट हो गया, बस तुम अच्छे हो स्वस्थ हो इत्यादि आदेश दे।

इसके अतिरिक्त बन्धन बांधते हुए भी आदेश देना चाहिए कि "देखो मैंने तुम्हारे निकृष्ट, मध्य, और गहरे विष को बांध दिया है—यह बस आगे नहीं जावेगा तुम निश्चिन्त रहो तुम नहीं मरोगे और सर्प के काटे से नहीं मरोगे मरने का काम नहीं, भय मत करो, मनुष्य सर्प के काटे से कभी नहीं मरता, भय करने से ही मरता है बस भय मत करो, तुम वीर हो भय तुम्हारे पास नहीं फटना चाहिए तुम साहस रखो अपने मन को दृढ़ रखो-कभी भी नहीं मर सकते, भाई मन अन्दर की बिजली है इससे विषप्रभाव नष्ट हो जावेगा।"

ऐसे आदेश देते हुए अपने हाथों या वस्त्र या रोम-कुञ्ची से ऊपर से नीचे को अभिमर्श (किंचित् स्पर्श) करते रहो।

सर्प काटे को देर होजाने पर औषध उपचार करते हुए भी ठण्डे अभिमर्श (स्पर्श) करते और आदेश देते रहो। आदेश-चिकित्सक गम्भीर, सत्यवादी, संयमी, हितदृष्टिमान् होगा तो प्रभाव अधिक पड़ेगा। 'सुश्रुत' में भी मन्त्र-चिकित्सकों को संयमी रहने को कहा है। अस्तु ॥



पञ्चम पटल

मणि बन्धन

मणिबन्धन का विषय अथर्ववेद में आता है। कण्ठ,मस्तक, शिर, नाभि और हाथ आदि अङ्गों में मणियां बांधी जाती हैं। लोग अथर्ववेद के मणिबन्धन से आधुनिक प्रचलित तावीज, नक्श, गण्डा, डोरा, धागा आदि बातों को भी सिद्ध करते हैं किन्तु इन बातों के लिये प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में भी स्थान नहीं है फिर वेद में तो कथा ही क्या। हां मनोवैज्ञानिक और आयुर्वैदिक शास्त्र से अनुमोदित या सम्बन्धित मणिबन्धन का वेद में वर्णन होना अत्यावश्यक और निर्दोष है। मणियां चार प्रकार की होती हैं। खनिज, सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य "खनिः स्रोतः प्रकीर्णकं च योनयः" (कौटिल्यार्थ शास्त्र प्रकरण २९) हीरा पन्ना आदि स्फटिक या पाषाणिक सोना चांदी आदि धातुरूप खनिज मणि हैं। मोती मूंगा आदि

सामुद्रिक मणि हैं। हाथी के दान्त और उसके मस्तक का मोती (गजमुक्ता) बाघ के नख, कस्तूरिया मृग की नाभि, बारहसींगे के सींग, सर्प की मणि, मेण्डक का जहर मोहरा आदि जङ्गमज या प्राणिज मणि हैं और वनस्पतियों के मूल कन्द फल आदि पृथक् पृथक् तथा उनकी रसक्रिया गुटिका और अनेकों वनस्पतियों का बना एक योग गोलीरूप में वानस्पत्य या ओषधिज मणि हैं। स्वयं वेद ने कहा है "मणिर्वीरुधां त्राय-माणो०" (अथर्व० ८। ७। १४)। इन मणियों के धारण से तीन प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

१—भूषा-अलङ्कार।

२—मन में प्रसन्नता, शान्ति और वीरता आदि का प्रभाव आना।

३—रोगों का दूरीकरण तथा अनाक्रमण विशेषतः विष का प्रतिकार और अनाक्रमण होना।

उपर्युक्त बातों के सम्बन्ध में प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण देकर स्पष्ट करते हैं—

मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैडूर्यस्फटिकादयः।
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः।
पवित्रा धारणीयाश्च पाप्मालक्ष्मीमलापहाः॥
(सुश्रुत सूत्रस्थान—अ० ४६ सुवर्णादि वर्ग १८)

इस वचन में बताया है कि मोती, मूंगा, हीरा, वैदूर्य (लहसुनिया) स्फटिक आदि मणियां धारण करनी

चाहिएं क्योंकि ये नेत्रशक्तिवर्धक, शीतल, दोष-विलेखन करने वाली, मन में पवित्रता लाने, अशोभा को हटाने शोभा को बढ़ाने और विष को दूर करने वाली हैं।

उक्त वचन में सामुद्रिक और खनिज मणियों के गुण और उन्हें धारण करने का वर्णन है। यहां एक बात विशेष यह कही है कि मणियां विषनाशक हैं इन मणियों में सुश्रत ने आयुर्वैदिक दृष्टि से गुणों का वर्णन करते हुए धारण करना बतलाया है, किसी मनघड़न्त गण्डा तावीज आदि अलौकिक जादू की बात नहीं कही, तथा चरक में भी देखिए—

वज्रं मरकतं सारं पिचुकी विषमूषिका।
कर्कोटकमणिः सर्पाद्व वैदूर्यंगजमौक्तिकम् ॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः।

(चरक। विषचिकित्सा० अ० २३। २४८, २४९)

इस चरकवचन में हीरा, मरकत, पन्ना, सार (चन्दनादि[1]) पिचुकी (इतर गन्धवत्ती[2]) विषमूषिका

---

१ "कोषाध्यक्षः कोषप्रवेश्यं रत्नं सारं फल्गु कुप्यं वा तज्जातकरणाधिष्ठितः प्रतिगृह्णीयात्" (कौटिल्यार्थं शास्त्र। अधि० २। प्रकरण २९)

"चन्दनम्, अगरु, तैलपर्णिकम्, भद्रश्रीयम्, कालेयकः। इति साराः"

(कौटिल्यार्थं शास्त्र। प्रकरण २९)

२ 'पिचुकम्' रुई के फाए का नाम है एवं 'पिचुकी' रुई की बत्ती है

(विषमणि विषमुष्टिका-कुचला या द्रवन्ती) कर्कोटक मणि सर्प से, वैदूर्य (लहसुनिया), गजमुक्ता, गरमणि और जो उत्तम विषहर ओषधियां हैं धारण करनी चाहिएं ॥

इस वचन में प्राणिज खनिज मणियों तथा सार (चन्दन आदि) और "वरौषध्यो विषापहाः" उत्तम विष-नाशक ओषधियों को धारण करने के कथन से वानस्पत्य मणियों का भी उल्लेख हो जाता है। ओषधिमणियों के सम्बन्ध में कौटिल्यार्थ शास्त्र के निम्न वचन देखिए—

जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकानामक्षीवे

जातस्य अश्वत्थस्य मणिः सर्वविषहरः ॥

(कौटिल्यार्थशास्त्र अधि० १४। प्रकरण० १७९)

जीवन्ती, श्वेता (अपराजिता या अतीस) मोखा, नागकेसर, वन्दा तथा सोंजने या महानिम्ब के ऊपर हुआ पीपल, इन सब की बनाई मणि सब विषों को हरने वाली है ॥

इस वचन में कई ओषधियों के योग की मणि का वर्णन है।'सुश्रुत' के कल्पस्थान में 'मूषिका (आखुकर्णी द्रवन्ती)

मणिबन्धनप्रकरण में 'पिचुक' अर्थात् इतर सुगन्धवाला रुई का फ़ाया धारण करना अष्टाङ्गहृदय ग्रन्थ में भी बताया है "वैदूर्यगर्दभमणिं पिचुकं विषमूषिकाम्

(अष्टाङ्गहृदय)

और अजरुहा (अजश्रृंगी) ओषधियों को हाथ में बांधने से विषयुक्त अन्न का विष निर्बल हो जाना बतलाया है—

मूषिकाऽजरुहा वापि हस्ते बद्धा तु भूपतेः ।
करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम् ॥
(सु० कल्प० अ० १ । ७७)

उपर्युक्त 'चरक' 'सुश्रुत' और 'कौटिल्यार्थ शास्त्र' के प्रमाणों से यह स्पष्ट हुआ कि खनिज, सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य चार प्रकार की मणियां होती हैं जो कि विष हरणादि के लिये धारण की जाती हैं । इसके साथ यह भी सिद्ध हुआ कि इन चार से भिन्न और कोई वस्तु मणि नहीं है और न मणि की भांति धारण करने योग्य है फिर यन्त्र, नक्श, गण्डा, तावीज धारण करना अनार्ष और अप्रामाणिक है अतः वेद में उनका स्थान नहीं हो सकता । वेद की मणियां भी निश्चित उक्त खनिज सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य ही हैं मिथ्या-कल्पित नक्श गण्डा तावीज नहीं । सामुद्रिक आदि मणियों के धारण करने के तीन प्रयोजनों का कुछ विवरण निम्न प्रकार करते हैं ।

१—अशोभा को दूर करने शोभा और भूषा को बढ़ाने के लिये हीरा पन्ना नीलम आदि खनिज, मोती आदि सामुद्रिक तथा प्राणिज और वानस्पत्य मणियां गले कान सिर हाथ कङ्कण अंगुलि आदि में धारण की जाती हैं । अतएव

मणियों को 'अलक्ष्मीघ्न' कहा है। इस प्रयोजन के लिये केवल मनुष्यों में ही नहीं किन्तु गौ आदि पशुओं तक के गले आदि में भी धारण कराते हैं। हां बहुमूल्य खनिज मणियां तो राजे महाराजे अपने हाथी घोड़ों को भी धारण कराते हैं परन्तु साधारण जन अल्पमूल्य सामुद्रिक शङ्ख सीपी कोड़ी आदि मणियां ही अपने पशुओं को धारण कराते हैं। न केवल इतना ही किन्तु मेज चौकी घर की भित्ति आदि को भी शङ्ख कोडी सामुद्रिक, बारहसिंहे के सींग आदि प्राणिज मणियों से सजाते हैं।

२—मन में प्रसन्नता वीरता आदि के भावों को जागृत तथा विकसित करने के लिये भी स्फटिक आदि खनिज महाशङ्ख आदि सामुद्रिक, हाथी दान्त बाघनख आदि प्राणिज मणियों को धारण करते हैं अत एव मणियों को ओज और तेज बढ़ाने वाली कहा है।

३—विष के अनाक्रमण तथा विषदूरीकरण के लिये हीरा पन्ना आदि खनिज, मोती मूंगा आदि सामुद्रिक, गजमुक्ता, जहरमोहरा, कस्तूरीनाभि आदि प्राणिज, चन्दन कपूर आदि पृथक् पृथक् तथा योग से निष्पन्न वानस्पत्य मणियों को धारण करते हैं। विषदूरीकरण के अतिरिक्त अन्य रोगों में भी इनका उपयोग करते हैं। महामारी (प्लेग) में कपूर चन्दन, श्लैष्मिक रोग (इन्फ्लूएञ्जा) में जायफल आदि वानस्पत्य मणियों के धारण करने का प्रभाव अच्छा देखा जाता है।

उपर्युक्त खनिज, सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य मणियों का ही अथर्ववेद में उक्त तीनों प्रयोजनों के लिये धारण करने का विधान है यह वेद का विधान जादू टोना या गण्डा तावीज नहीं है किन्तु आयुर्वैदिक या वैज्ञानिक सिद्धान्त का विषय है अब हम उक्त मणियों का जो अथर्ववेद के मन्त्रों में विधान है उनका यहां विचार करेंगे।

खनिजमणि में आञ्जनमणि—

अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ६ में "आञ्जन" मणि का वर्णन है, कौटिल्यार्थ शास्त्र के मणि प्रकरण में "अञ्जनमूलक" नाम से खनिज मणि कहा है "विमलकः सस्यकोऽञ्जनमूलकः" (कौटिल्य० प्रकरण २६) अर्थ दोनों 'अञ्जनमूलक' और 'आञ्जन' का एक ही है 'अञ्जनमूलक' अञ्जन जिसका मूल है और 'आञ्जन' अञ्जन का बना हुआ, इस प्रकार आशय एक ही है। अञ्जन नाम की खनिज वस्तु है जिसे सुरमा भी कहते हैं इस अञ्जन या सुरमे की बनी मणि-गोली या टिकिया आञ्जनमणि है। अथर्ववेद में उस 'आञ्जन' अञ्जन अर्थात् सुरमे की मणि अर्थात् गोली या टिकिया के पास रखने का नेत्र आदि रोगों के दूर करने के लिये विधान है। यहां इस 'आञ्जन' अञ्जन-मणि या सुरमे की गोली या टिकिया को बांधने के लिये नहीं कहा है क्योंकि मंत्र ५ में स्पष्ट "यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन" से यह बात स्पष्ट हो रही है क्योंकि उसे "बध्नाति" शब्द से नहीं

कहा किन्तु "बिभर्ति" धारण करता है–पास रखता है ऐसा कहा है, इससे तो यही सिद्ध होता है कि सुरमे की गोली या टिकिया पास रखनी चाहिये आवश्यकता के समय काम आने वाली वस्तु है, उस सुरमे की गोली या टिकिया को समय पर पानी म डुबा कर या घिस कर आंख में उसकाजल टपकाना, नाक में डालना, मुख द्वारा पान करना, सर्प आदि के काटे स्थान पर उसे घिस कर लगाना आदि उपयोग लेना चाहिए ऐसा सूक्त का तात्पर्य है। अस्तु। अब मन्त्रार्थ भी देखिये—

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्षम्।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

अर्थ—(जीवं त्रायमाणम्-एहि) हे आञ्जन[1] ! तू जीव को रोग से बचाने के हेतु प्राप्त हो (जीवनाय परिधिः कम्) निश्चय तू जीवन की परिधि प्राकार परकोटा है (विश्वेभिः-देवैः) समस्त देवों के द्वारा (दत्तम्) दिया हुआ–सम्पन्न किया हुआ (पर्वतस्य-अक्षम्-असि) पर्वत का नेत्र है ॥ १ ॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

---

१ यातुजम्भनमाञ्जन (मन्त्र ३)

अर्थ—(पुरुषाणां परिपाणम्) हे अञ्जन! तू पुरुषों को स्वास्थ्य देकर रक्षा करने वाला है (गवां परिपाणम्-असि) गौवों को स्वास्थ्य देकर रक्षा करने वाला है (अश्वानाम्-अर्वताम्) आशुगामी घोड़ों के (परिपाणाय) स्वास्थ्यरक्षण के लिये (तस्थिषे) स्थित है ॥ २ ॥

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीव-
भोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन! अञ्जन से सम्पन्न विशुद्ध मणि-गोली-टिकिया रूप औषध! तू (उत) सम्भवनीय-अवश्यम्भावी (परिपाणम्-असि) स्वास्थ्य की रक्षा करने वाला है (यातुजम्भनम्) यातना-पीड़ा का नाश करने वाला है (उत) अपितु (त्वम्) तू (अमृतस्य वेत्थ) अमृत-उत्तम स्वास्थ्य का 'वेदयथ' अनुभव कराता है या अमृत अर्थात् विषनाशक गुण को अपने अन्दर विद्यमान रखता है (अथ) तथा (जीव-भोजनम्-असि) जीवों को संसार में सुखभोग कराने वाला क्षय हटाकर जीवन भुगाने वाला औषध है (अथ-उ) और भी (हरितभेषजम्) हरित रोग कामला पाण्डु का औषध है ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में आञ्जन को विषनाशक, जीवनसमृद्धि देने वाला, कामला पाण्डु का नाशक कहा है ॥ ३ ॥

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः।

ततो यक्ष्मं विबाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे अञ्जन से निष्पन्न गोली या टिकियारूप औषध ! तू (यस्य) जिस मनुष्य के (अङ्गमङ्गम्) अङ्ग अङ्ग में (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (प्रसर्पसि) पान द्वारा पहुंच जाती है–फैल जाती है (ततः) उस मनुष्य से (उग्रो मध्यमशीः- इव) उग्र विद्युत् की भांति अर्थात् जैसे अन्तरिक्षस्थानी उग्र विद्युत् मेघ को ताडित करती है ऐसे (यक्ष्मं विबाधसे) आन्तरिक रोग को अङ्गों-जोड़ों में घुसे रोग को ताडित करती है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र में आञ्जन को अङ्ग अङ्ग में और जोड़ जोड़ में 'प्रसर्पसि' पहुंचने का वर्णन होने से सिद्ध होता है कि आञ्जन गोली या टिकिया घिस कर पान करना यहां अभीष्ट है। विना पान किए किसी अङ्ग में बांध लेने से सब अङ्गों और जोड़ों में पहुंचने फैलने की बात नहीं बन पड़ती।

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।

नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन॥ ५ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे अञ्जन की टिकिया (यः) जो मनुष्य (त्वा) तुझे (बिभर्ति) धारण करता है–अपने

पास रखता है (एनम्) इस उस मनुष्य को (शपथो न प्राप्नोति) निन्दावचन नहीं प्राप्त होता है-मन पर प्रभाव नहीं डालता है या छूत का रोग नही प्राप्त होता है (न कृत्या) विषयुक्त घातक क्रिया भी[१] प्राप्त नहीं होती प्रभाव नहीं डालती (न-अभिशोचनम्) उदासीनता निराशा भी प्राप्त नहीं होती सदा उत्साह रहने से (विष्कन्धम्-एनं-न अश्नुते) आलस्य प्रमाद जड़ता शैथिल्य भी उसे प्राप्त नहीं होता है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में अञ्जन टिकिया के सेवन से आलस्य, शैथिल्य, छूत रोग, विष की घातक क्रिया के प्रतिकार का वर्णन है, आञ्जन सेवन से प्रसन्नता और उत्साह बढ़ता है और यह विषप्रभाव को नष्ट करता है, ऐसा आयुर्वेदशास्त्र का मत है।

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत ।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! तू (असन्मन्त्रात्) अयुक्त विचार से (दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न के कारण से वात-प्रकोप तथा मस्तिष्क की शुष्कता से (उत) तथा (दुष्कृतात्-शमलात्) पापमल से (दुर्हार्दः) हृदयरोग से (तस्मात्

१ कृत्या के सम्बन्ध में देखो, इस पुस्तक में आगे 'कृत्या-अभिचार' प्रकरण को ।

चक्षुषो घोरात्) उस प्रसिद्ध आंखों के घोर रोग से (नः) हमें (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

अञ्जनसेवन से मन विकसित होता है उससे असम्यक् विचार, अनिद्रा वासना नष्ट होती है और हृदयरोग, नेत्ररोग भी नहीं सताता ।

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! (अहं विद्वान्) मैं जानता हुआ (इदं सत्यं वक्ष्यामि) यह सत्य कहता हूं (न-अनृतम्) झूठ नहीं कहता कि (तव पुरुष) यह मैं तेरा पुरुष "सुपां सुलुक्०" (अष्टा० ७ । ३ । ३६ –इति सुलुक्) तेरा सेवन करने वाला (अश्वम्) घोड़े को (गाम) गौ को (आत्मानम्) अपने शरीर को (सनेयम्) तेरे उपयोग से सुखयुक्त करता हूं ॥ ७ ॥

आञ्जन का उपयोग गौओं घोड़ों के लिए भी उपयोगी है ।

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

अर्थ—(आञ्जनस्य) तुझ आञ्जन के (तक्मा) कष्टदायक ज्वर रोग (बलासः) बलनाशक-कफ रोग (आत्)

तथा (अहिः) सर्प-सर्पविष (त्रयः) ये तीनों (दासाः) दास हैं-तेरे द्वारा नष्ट होने वाले हैं (पर्वतानाम्) पर्वतों में (वार्षिष्ठः-त्रिककुत्) समृद्ध ऊँचा तीन शिखरों वाला पर्वत (नाम) वास्तव में (ते पिता) तेरा जनक है ।

. अञ्जन के प्रयोग से भयङ्कर ज्वर, कफरोग, सर्पविष दूर हो जाता है वह अञ्जन तीन शिखरों वाले पर्वत से लेना चाहिये । आयुर्वेदिक निघण्टु में अञ्जन को विषनाशक कहा है । वेद के कथन से प्रतीत होता है आञ्जन सर्पविष के लिए विशेष उपयोगी है ।

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यातूंश्च सर्वान् जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—(हिमवतः-परि) हिमालय श्रेणि में (त्रैक-कुदं जातम्) तीन शिखरों वाले पर्वतभाग से निकला हुआ (यत्) जो (आञ्जनम्) आञ्जन-अञ्जनभेषज है वह (सर्वान् यातून् च) समस्त यातना देने वाले नर कृमियों को (सर्वाश्च यातुधान्यः) और सब यातना देने वाली स्त्री कृमियों को (जम्भयत्) नष्ट कर देता है ।

जो छोटे छोटे कृमि आंख कान नाक मुख में घुस कर यातना देते हैं उनको तथा उनके दूषित प्रभाव को अञ्जन-प्रयोग नष्ट कर देता है ।

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! तू (यदि वा) चाहे (त्रैककुदम्-असि) तीन शिखरों वाले पर्वत से उत्पन्न होने के कारण- त्रैककुद नाम का लोक में सौवीराञ्जन है (यदि) चाहे (यामुनम्-उच्यसे) मिलती हुई चलने वाली नदी से उत्पन्न होने के कारण 'यामुन' लोक में स्रोतोञ्जन कहा जाता है (ते उभे नाम्नी) तेरे दोनों गुणानुसार नाम (भद्रे) सुन्दर हैं-यथार्थ हैं (ताभ्यां नः पाहि) उनके द्वारा हमारी रोगों से रक्षा कर ।

यहां मन्त्र में आञ्जन के दो नाम उत्पत्तिभेद से बताएं हैं एक पर्वत दूसरा नदी इसके उत्पत्तिस्थान हैं इन्हीं दोनों से इसे त्रैककुद और यामुन कहा है ॥

इस सूक्त में अञ्जन अर्थात् सुरमे को शुद्ध उपयुक्त करके गोली या टिकिया बनाकर या चूर्ण के रूप में पास रखने का वर्णन है । सूक्त में अञ्जन के 'त्रैककुद' और 'यामुन' ये दो यौगिक नाम दिये हैं किसी रूढ पर्वत या नदी से इसका सम्बन्ध नहीं किन्तु 'त्रैककुद' से भूमितल पर तीन प्रक्रम से उठे हुए पर्वत त्रिककुद् और यामुन से दूसरी नदियों

को मिलाती हुई उनसे मिलती हुई नदी 'यमुना' अभीष्ट है[1] एवं पर्वत और नदी से उद्भव होने से उसके ये नाम हैं आयुर्वैदिक निघण्टु में इन्हें 'सौवीराञ्जन' और 'स्रोतोञ्जन' नाम दिये हैं तथा उन्हें 'पार्वतेय' और 'नादेय भी कहा है—

अञ्जनं यामुनं चापि कापोताञ्जनमित्यपि।
तत्तु स्रोतोञ्जनं नदीजं च वाल्मीकं च जयामलम् ॥
(भाव प्रकाश नि०)

स्रोतोञ्जनं नदीजं च वाल्मीकं च जयामलम्।
सौवीरकं पार्वतेयं मेचकं नीलमञ्जनम् ॥
(शालिग्राम निघण्टु०)

---

१ रामायण में सामान्य नदी के अर्थ में 'यमुना' शब्द आया भी है वहां कहा है कि गई रात नहीं लौटती जैसे ही जल भरे समुद्र को गई यमुना भी नहीं लौटती ।

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकाकुलम् ॥
(वाल्मीकि रामा० । अयो० । १०५ । १९)

यहां गई रात के न लौटने की समता में 'यमुना' शब्द का रखना तथा उसके जलपूर्ण समुद्र तक पहुँचने के कथन से 'यमुना' सामान्य नदी अर्थ में स्पष्ट सिद्ध होता है ।

वेद ने इस उपर्युक्त सूक्त में अञ्जन को यातुजम्भन, हरितभेषज (कामला हलीमक पाण्डुनाशक) अन्दर प्रविष्ट हुए रोग को हटाने वाला, कृत्या (विषक्रिया) का निवारक, ढीलेपन का नाशक, दुःखनाशक, नेत्ररोग निवारक तक्मा ज्वर (क्षय) का नाशक बलास–कफ रोग का विध्वंसक और सर्पविष को दूर करने वाला बतलाया है। आयुर्वैदिक निघण्टु में आञ्जन के गुण उक्त दिये हैं—

स्रोतोञ्जनं स्मृतं स्वादु चक्षुष्यं कफपित्तनुत् ।
कषायं लेखनं स्निग्धं ग्राहिच्छर्दिविषापहम् ॥

(भाव प्र० नि०)

सिध्मक्षयास्रहृत् शीतं सेवनीयं सदा बुधैः ॥
सौवीराञ्जनं प्रोक्तमत्यन्तं शिशिरं बुधैः ।
विषहिध्माविकारघ्नमक्षिरोगविषापहम् ॥

(धन्वन्तरि नि०)

इस प्रकार आयुर्वैदिक निघण्टु-शास्त्र में प्रदर्शित अञ्जन के लाभ उक्त सूक्त में 'आञ्जन' अञ्जन से बने गोली टिकिया सुरमे के आंख नाक मुख आदि द्वारा सेवन से बताना कोई मन्त्र तन्त्र गण्डा-तावीज की बात नहीं है। सूक्त में इसके बांधने का वर्णन भी नहीं। और यदि 'आञ्जन' को 'आऽअञ्जन' ऐसा माना जावे जैसा कि पदपाठ में दिया है तब तो बांधने

का प्रसङ्ग शशशृङ्ग जैसा ही है क्योंकि उसका अर्थ 'आ' भली भांति आञ्जा जाने वाला–लेप करने आंख में लगाने सुशोभित करने फैलने वाला पदार्थ आञ्जन हुआ। अस्तु। अब सामुद्रिक मणि के प्रसङ्ग में लिखते हैं।

सामुद्रिक मणि में 'शङ्खमणि'—

अथर्व वेद के काण्ड ४ सूक्त १० में शङ्ख मणि का वर्णन है। सूक्त में शङ्ख से तात्पर्य साधारण शङ्ख नहीं है क्योंकि वहां मन्त्रों में उसके विशेषण 'शङ्खः कृशनः' (म० १, २) 'दिवाकरः' (म० ५) दिये हैं। यास्क निघण्टु में कृशन हिरण्य नामों में पढ़ा है "कृशनं हिरण्यनाम" (निघं० १। २) यह शङ्ख सुनेहरा है। 'दिवाकर' सूर्य को कहते हैं इससे भी सुनेहरा चमकीला ही तात्पर्य है। अतएव यह मुक्ताशङ्ख है जिसमें मोती होता है। कौटिल्यार्थ शास्त्र २६ वें मणि-संग्रह प्रकरण में मोती की योनि शङ्ख को भी बतलाया है "शङ्खः शुक्तिः प्रकीर्णकं च योनयः" (कौटि० २८ प्रकरण)। तथा "आयुर्वेद प्रकाश" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी मोती की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान शङ्ख भी बतलाया है "शुक्तिः शङ्खो गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दुरः। वेणुश्चाष्टौ समाख्याताः सुज्ञैर्मौक्तिक-योनयः" (आयुर्वेद प्रकाश। अ० ५। १३) यहां सीपी, शङ्ख, हाथी, सुअर, सर्प, मछली, मेण्डक, बांस, ये आठ मोती के उत्पत्ति स्थान हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यहां शङ्ख शब्द से

मोती सहित—मोती वाला शङ्ख अभीष्ट है अथवा शङ्ख शब्द में अकार मत्वर्थीय है या ताद्धित प्रत्यय का लोप है। जैसे निरुक्त में कहा गया है "ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति-गोभिः श्रणीत मत्सरम्-इति पयसः" गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूना-स्नाव च श्लेष्मा च" (निरु० २ । ५) इसी सूक्त के छठे मन्त्र से यह बात पुष्ट भी होती है "रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वम्" (अथ० ४ । १० । ६) रथ में लगा हुआ द्रष्टव्य या दर्शनीय है और तरकस में चमकने वाला है। शङ्ख का मोती चमकने वाला है। शङ्ख का मोती चमकता है यह आयुर्वैदिक निघण्टु में भी स्पष्ट कहा है कि "शङ्खस्याच्युतङ्गारिणो जलनिधौ ये वंशजा कम्बुकास्तेष्वन्तः किल मौक्तिकं भवति वै तच्छुक्रतारानिभम्" (शालिग्राम नि०) शङ्ख का मोती शुक्रतारा की तरह चमकीला होता है। सूक्त में उसे मणि कहा है शङ्ख का मोती भी मणि है क्योंकि मोती को भी मणि कहते हैं यह 'आयुर्वेद प्रकाश' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी कहा है "वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः। चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्तश्च सप्तमः। गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयो ह्यमी॥" (आयुर्वेद प्रकाश अ० ५ । १३१) अतः उपर्युक्त हेतुओं से सूक्त के अन्दर शङ्ख शब्द से शङ्ख का मोती लेना अनुचित नहीं है और सूक्त में जो गुण बतलाए हैं वे गुण भी मोती के अन्दर आयुर्वैदिक निघण्टु में बतलाए हैं जिनको सूक्तव्याख्या के पश्चात् तुलना के लिये रखेंगे। अब सूक्त की व्याख्या करते हैं।

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥

अर्थ—(वातात्) वायु से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (विद्युतः) विद्युत् से (ज्योतिषः) सूर्यरूप ज्योति से (परि–जातः) अधिजात सम्पन्न या प्रगट हुआ। तथा (हिरण्यजाः) सुवर्ण तेज से उत्पन्न (सः) वह (कृशनः शङ्खः) हिरण्यरूप सुनेहरी शङ्खमणि–शङ्खमुक्ता शङ्ख का मोती "कृशनं हिरण्यम्" (निघं० १ । ८) (नः) हमें (अहंसः) रोग पीड़ा और दोष से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

समुद्र के अन्दर शङ्ख में मोती केवल समुद्र के कारण ही नहीं होता किन्तु अनुकूल वृष्टि से जिसमें वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत्, सूर्य, तथा सुवर्णादि पार्थिवतेज का सम्बन्ध भी होता है अतएव वह रोग, पीड़ा और दोषों से बचा सकता है ॥ १ ॥

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो विषहामहे ॥२॥

अर्थ– (यः) जो (समुद्रात्–अधि) समुद्र के अन्दर से (रोचनानाम्) चमकीले पदार्थों में (अग्रतः) अग्र प्रथम (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ। उस (शङ्खेन) शङ्खमणि-

शङ्ख के मोती द्वारा (रक्षांसि) राक्षसों दृश्य घातक जन्तुओं को (अत्रिणः) रक्त मांस आदि शरीर की आन्तरिक धातुओं के खाने वाले कृमियों को (हत्वा) मारकर (विषहामहे) उनपर विजय पावें या उनके दूषित विषों को सहन कर सकें निराकृत कर सकें ॥

समुद्र के अन्दर अन्य चमकीली वस्तुओं में शङ्ख का मोती सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ या सर्व श्रेष्ठ वस्तु है। उसके द्वारा स्थूल बाहिरी तथा शरीर के भीतरी सूक्ष्म जन्तुओं के आक्रमण से बच सकते हैं ॥२॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ- (शङ्खेन) शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता से (अमीवाम्) रोग को (अमतिम्) भोगवासना को "अशनाया वा अमतिः" (श० ६।२।३।८) (उत) तथा (शङ्खेन) शङ्खमणि शङ्खमुक्ता से (सदान्वाः) सदा शब्द कराने वाली रुलाने वाली आन्तरिक मानसिक रोग। वेदनाओं को दूर करे "सदान्वे सदानोनुवे सदाशब्दकारिके" (निरु० ६।३०) (कृशनः शङ्खः) सुनेहरी शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता (विश्वभेषजः) समस्त भेषजधर्म वाला (नः) हमें (अंहसः) रोग दोष से (पातु) बचावे ॥

शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता से शारीरिक मानसिक रोग तथा अतिकामवासना आदि दोष दूर होते हैं ॥ ३ ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥४॥

अर्थ--(दिवि जातः) द्युलोक में प्रकट हुआ वृष्टि-जल में बीज भाव से प्राप्त हुआ ।'अथवा लुप्तोपमा ।' द्युलोक में प्रकट हुए सूर्य के समान (सः-समुद्रजः) यह समुद्र से उत्पन्न हुआ (हिरण्यजाः) तेजोमय तत्वों से सम्पन्न (शङ्खः-मणिः) शङ्खमणि शङ्खमुक्ता (सिन्धुतः) स्यन्दनशील लहरों वाले समुद्र या समुद्र से मिलते हुए नदमुख से (पर्याभृतः) खोज से लाया हुआ (नः) हमारे लिए (आयुष्प्रतरणः) आयु का फैलाव करने वाला हो ।

शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता आयु का वर्धक है सूर्य के समान कान्ति वाला है वह समुद्र में बड़े नद के मुख पर (जो समुद्र से मिलता है वहां) प्राप्त हो सकता है। ऐसा मन्त्र का आशय है ॥ ४ ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

(समुद्रात्-जातः-मणिः) समुद्र से प्रकट हुआ शङ्ख मणि शङ्ख का मोती (वृत्रात्-जातः-दिवाकरः) मेघ से प्रकट हुए मेघ से बाहर निकले सूर्य के समान है (सः) वह (हेत्याः) विषादिजनित घातक क्रिया से (देवासुरेभ्यः)

दैविक और आसुरी उत्पातों से—आकाश और भूमि में वर्तमान पदार्थों के उपद्रवों से (अस्मान्) हमें (सर्वतः) सब ओर से (पातु) बचावे ॥

शङ्खमणि—शङ्ख का मोती आकाश के सूर्य वायु मेघ आदि पदार्थों के उत्पातकृत प्रभावों रोगों से और पृथिवी के कृमि-कीटों और भूगर्भीय उपद्रवों के किए कष्टों तथा विषकृत घातक क्रियाओं से रक्षा करता है ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण
आयूंषि तारिषत् ॥६॥

अर्थ—(हिरण्यानाम्-एकः-असि) हे शङ्खमणि शङ्ख-मुक्ता ! तू चमकने वाले सुनेहरी पदार्थों में एक है (त्वम्) तू (सोमात्) सोम से चन्द्रमा से--उसके प्रभाव से या सौम्य धर्म से (अधिजज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है (त्वम्) तू (रथे) रथ में-संग्रामरथ में (दर्शतः—असि) दर्शनीय है (त्वम्) तू (इषुधौ) बाणपात्र—तरकस में (रोचनः) चमकने वाला है (नः) हमारी (आयूंषि) आयु को (प्रतारिषत्) बढ़ा "अत्र पुरुषव्यत्ययः" ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय
शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

अर्थ—(देवानाम्) शङ्खमणि—मुक्ताशङ्ख देवताओं की (कृशनम्-अस्थि बभूव) सुनेहरी हड्डी है (तत्) वह (आत्मन्वत्) आत्मा वाला हो (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (चरति) विचरता है (तत्) उस शङ्खमुक्ता को (ते) तेरे (वर्चसे) तेज के लिए (आयुषे) जीवन के लिये (बलाय) बल के लिए (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिए (शतशारदाय) सैकड़ों वर्ष जीने के लिए (कार्शनः) उस सुनेहरे शङ्ख से निकला मोती (त्वा) हे पात्र ! या रोगी ! तुझे (अभिरक्षतु) रोग से बचावे ॥

जीवन, तेज, बल दीर्घायु और रोगों से बचाव के लिए शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता को बांधने अंगूठी या अन्य भूषणों में जड़ित करा कर धारण करने का विधान मन्त्र में है।

इस समस्त सूक्त के अन्दर शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता शङ्ख के मोती को बांधने से मानसिक दोष, बाहरी और रक्तभक्षक आन्तरिक कृमियों के आक्रमण, शारीरिक और तीव्र मानसिक रोग, विषघातक क्रिया, आकाशीय और भूमि के उत्पातों के प्रभाव का नाशक तथा तेज बल दीर्घायु और स्वास्थ्य का देने वाला एवं रथ में जड़ा, तरकस में लगा युद्धक्षेत्र में प्रताप का बढ़ाने वाला चमकदार सुनेहरी सामुद्रिक रत्न बतलाया है। जो कौटिल्यार्थशास्त्र तथा आयुर्वैदिक ग्रन्थों के द्वारा शङ्ख का मोती है और वह बड़ा चकमदार सुनेहरी होता है यह हम प्रथम ही सप्रमाण बतला चुके हैं। अब आयुर्वैदिक ग्रन्थों में उक्त

मोती के गुण वेद के साथ तुलना करने के लिए नीचे प्रदर्शित करते हैं।

मौक्तिकं सुमधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम्।
राजयक्ष्मपरिकोपनाशनं क्षीणवीर्यबलपुष्टिवर्द्धनम्॥
कफपित्तक्षयध्वंसि कासश्वासाग्निमान्द्य जित्।
पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम्॥ (नि० र०)

इस प्रकार आयुर्वेदिक शास्त्र के अनुसार उपर्युक्त लाभों के लिए शङ्खमणि--शङ्खमुक्ता का धारण सेवन करना कोई मन्त्र जादू गण्डा तावीज की बात नहीं है। अस्तु।

प्राणिज या जान्तव मणि में 'अस्तृत' मणि–

अथर्ववेद का० १६ सूक्त ४६ में 'अस्तृत' मणि का वर्णन है यह 'अस्तृत' शब्द' अस्त्रित का है। सम्भव है मूलरूप वैदिक पाठ 'अस्त्रित' हो अन्यथा 'अस्त्रित' का 'अस्तृत' छान्दस प्रयोग है, उच्चारण में तो भेद नहीं है अर्थों में भी भेद न हो यह भी मानना कोई अनुचित नहीं है जैसे 'क्रिमि' और 'कृमि' शब्द दोनों उच्चारण में समान होते हुए अर्थों में भी समान हैं। इस प्रकार 'अस्तृत' को श्रुतिसामान्य से 'अस्त्रित' समझ लेना भी उचित हो सकता है निरुक्त में कहा भी है "अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन" (निरुक्त० २ । १) इस प्रकार 'अस्तृत' को श्रुति-सामान्य से 'अस्त्रित' समझ लेने से

इसका अर्थ व्याघ्रनखजड़ित शास्त्र हो जाता है क्योंकि 'अस्त्र' का अर्थ व्याघ्रनख है "अस्त्रं व्याघ्रनखे" (वैद्यक शब्दसिन्धुः) इस अर्थ में वेद की इसी सूक्त में अन्तःसाक्षी भी है देखिये "अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते । व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥" (मन्त्र ४) यहां स्पष्ट अस्तृत मणि को या उसके धारण करने वाले को व्याघ्र कहा गया है । सायण के वचन भी यहां देखने योग्य हैं "एवं वीर्यप्राणोपेतो मणिस्त्वं व्याघ्रः" (सायणः) व्याघ्र जङ्गल का राजा और पराक्रमी है उसके नख से जड़ा हुआ शस्त्र धारण करना हाथ में बांधना राजा के अन्दर व्याघ्रपराक्रम को उत्पन्न करने वाला हो सकता है । इस सूक्त में है भी पराक्रम का विषय, जैसे व्याघ्र शेर जंगल के सब प्राणियों को परास्त कर देता है एवं राजा के अन्दर भी शत्रुओं पर पराक्रम करने का साहस आवे इसलिये इस अस्तृत मणि के बांधने का अथर्व वेद में विधान है । मनपर शूरता वीरता पराक्रम के प्रभाव को डालना ही यहां उद्देश्य है । यहां कोई मन्त्र या जादू की बात नहीं किन्तु मनोवैज्ञानिक तथा धनुर्विद्या की बात है । अस्तु । अब सूक्त का अर्थ करते हैं ।

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्याय कम् ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय
चास्तृतस्त्वभिरक्षतु ॥१॥

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक सम्राट् (त्वा) तुझ (अस्तृतम्) व्याघ्रनखजड़ित शस्त्र को (वीर्याय) वीर्य-बल के लिए वीर्यप्राप्ति के लिए (कम्) अवश्य (प्रथमं बध्नात्) प्रथम बांधता है। अतः (तत्) उस (आयुषे) आयु के लिए (वर्चसे) तेज के लिए (च) और (ओजसे) प्रताप के लिए (च) और (बलाय) बल के लिए (ते) हे राजन्! तेरे (बध्नामि) बांधता हूं (अस्तृतः) वह व्याघ्रनखजडित शस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे॥ १॥

व्याघ्रनख अर्थात् शेर का पञ्जा लगा हुआ शस्त्र हाथ में बांधने से राजा में मानसिक विद्युत् का प्रवाहरूप पराक्रम बढ़ जाता है। उससे आयु, तेज, प्रताप, बल का राजा में संचार होजाता है। राजसिंहासन पर बैठने वाले प्रत्येक राजा को पराक्रम देने वाला इस सिंघनख पञ्जे को शस्त्ररूप में धारण करना अत्युत्तम और आवश्यक है॥ १॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन्
पणयो यातुधानाः। इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व
पृतन्यतः सर्वाञ्छत्रून् विषहस्वास्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥२॥

अर्थ—(अस्तृतः) अस्तृतमणि—व्याघ्रनखयुक्त शस्त्र "विभक्तिलुक्" (इममप्रमादं रक्षन्) इस प्रमादरहित या

इस राजा की निरन्तर रक्षा करता हुआ (ऊर्ध्वः-तिष्ठतु) ऊंचा उन्नत रूप में स्थिर होवे (यातुधानाः) हे राजन् ! यातना धारण करने वाले-यातनाकारी (पणयः) व्यवहार-प्रयोग (मा त्वा दभन्) तुझे तिरस्कृत न करें। (इन्द्र इव) विद्युत् की भांति (दस्यून्) दस्युओं को (अवधूनुष्व) नष्ट कर (पृतन्यतः) सङ्ग्राम चाहते हुए (सर्वान् शत्रून्) सब शत्रुओं को (विषहस्व) परास्त कर (अस्तृतः) व्याघ्रनखशस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ २ ॥

शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो
बलमस्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ३ ॥

अर्थ—(शतं प्रहरन्तः) व्याघ्रनख-शस्त्र-धारक को सैंकड़ों प्रकार से प्रहार करने वाले शत्रुजन (न तस्तिरे) हिंसित नहीं कर सकते (च) और (निघ्नन्तः) हिंसित करने वाले शत्रुजन भी (न) हिंसित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उस व्याघ्रनख शस्त्र में (चक्षुः) प्रहार आदि करते हुए शत्रुओं के नेत्र (प्राणम्) प्राण (अथो) और (बलम्) बल को (इन्द्रः) विद्युत् (पर्यदत्त) तेरे परिगृहीत-वश कर देती है। वह (अस्तृतस्त्वाभिरक्षतु) व्याघ्रनखशस्त्र तेरी रक्षा करे ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परिधापयामो यो देवानाम-
धिराजो बभूव । पुनस्त्वा देवाः प्रणयन्तु
सर्वेस्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ४ ॥

अर्थ—(त्वा) हे राजन् ! तुझे (इन्द्रस्य वर्मणा) इन्द्र के कवच से (परिधापयामः) परिरक्षित करते--ढाँपते हैं (यः) जो इन्द्र (देवनाम्) देवों का (अधिराजः) सम्राट् अधिपति (बभूव) है (पुनः) फिर (सर्वे देवाः) उस इन्द्र के सब देव–दिव्य गुण–दिव्यतरंगे (त्वा) तुझे (प्रणयन्तु) आगे प्रेरित करें और (अस्तृतः) व्याघ्रनखशस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ ४ ॥

अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा
अस्मिन्नस्तृते । व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान्
यस्त्वा पृन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभिरक्षतु॥५॥

अर्थ—(अस्मिन् अस्तृते मणौ) इस व्याघ्रनख-शस्त्ररूप मणि में (एकशतं वीर्याणि) एक सौ वीर्य बल हैं (अस्मिन्) इसमें (सहस्रं प्राणाः) हजारों प्राण हैं-जीवन को उत्साहित करने वाली शक्तियां हैं, अतः इस व्याघ्रनखशस्त्र-रूप मणि को हाथ में धारण करके हे राजन् ! तू (व्याघ्रः) साक्षात् व्याघ्र शेर जैसा बना हुआ है (सर्वान्--शत्रून्) सब शत्रुओं पर (अभितिष्ठ) आक्रमण कर (यः) जो (त्वा-

पृतन्यात्) तेरे साथ लड़ना चाहे (सः) वह (अधरः-अस्तु) परास्त हो। वह (अस्तृतः) व्याघ्रनख शस्त्र (त्वा) तेरी (अभि-रक्षतु) रक्षा करे ॥ ५ ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान्त्सहस्रप्राणः
शतयोनिर्वयोधाः । शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च
पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ६ ॥

अर्थ—(घृतादुल्लुप्तः) घृत से चुपड़ा हुआ या घृत से तेज किया हुआ है या घृत से चुपड़ा चिकना बना हुआ जैसा (मधुमान्) शहद से भी संस्कृत किया गया हुआ मधु जैसा चमकदार (पयस्वान्) दूध जैसा शुभ्र रंग का (सहस्रप्राणः) हजारों प्राणशक्तियों का देने वाला (शतयोनिः) सैकड़ों कारणशक्ति वाला (वयोधाः) आयु का धारक है। उससे हे राजन् ! तू (शंभूः) कल्याणसाधक (मयोभूः) सुख का अनुभव कराने वाला (च) और (ऊर्जस्वान्) बलवान् (च) और (पयस्वान्) वीर्यवान् हो (अस्तृतः) वह व्याघ्रनखशस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ ६ ॥

यथा त्वमुत्तरोसो असपत्नः सपत्नहा ।
सजातानामसद् वशी तथा त्वा सविता
करदस्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ७ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे हे राजन् ! (त्वम्) तू (उत्तरः) ऊंचा बढ़ा हुआ (असपत्नः) शत्रुरहित (सपत्नहा) शत्रुनाशक (असः) हो। तथा (सजातानाम्) समान उत्पत्ति वालों-समान देश वेश वालों का (वशी) वश करने वाला नियन्त्रक (असत्) हो सके (तथा) वैसे (सविता) सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वर (त्वा) तुझे (करत्) बनावे (अस्तृतः) व्याघ्रनख शस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे॥ ७॥

इस प्रकार इस सूक्त में 'अस्तृत मणि' अर्थात् व्याघ्रनखशस्त्र के हाथ में बांधने धारण करने से मन पर वीरता आदि का प्रभाव पड़ कर शारीरिक तथा मानसिक बल उत्साह, तेज, ओज, पराक्रम, वीरता, शूरता आदि गुण बढ़ते हैं। जैसे खाली हाथ की अपेक्षा साधारण लाठी हाथ में रखने पर मनुष्य में बहुत कुछ उत्साह साहस आ जाता है फिर व्याघ्रनख जैसे शस्त्र के हाथ में रखने पर तो कहना ही क्या है। इसमें किसी गुप्त मन्त्र जादू या गण्डा तावीज की बात नहीं है यह तो मनोवैज्ञानिक तथा धनुर्विद्या सम्बन्धी बात है। वेद के इस 'व्याघ्रनखशस्त्र' का वर्णन "प्राचीन भारतीय युद्ध और युद्ध की सामग्री" नामक पुस्तक में "सिंहनखा" नाम का शस्त्र सं० ४६ में दिया हुआ भी है। अस्तु।

वानस्पत्य मणि—

वनस्पतियों से बनाई मणि वानस्पत्य कहाती है, उसके दो भेद हैं। एक तो चन्दन आदि सारवान् तीव्र गन्ध-

वाले वृक्षों के आवश्यकतानुसार गोल, चतुष्कोण (चौकोन), त्रिकोण आदि टुकड़े के रूप में होती है*। दूसरे विशेषगुणकारी एक या अनेक ओषधियों के पत्र आदि भागों के स्वरस से रसक्रिया की बनाई गोली या पीसी लुगदी की या उनके चूर्ण की बनाई गोली टिकिया के रूप में होती है कौटिल्यार्थ शास्त्र में भी ऐसी मणियों के बनाने का विधान किया है—

जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकानामक्षीवे
जातस्य अश्वत्थस्य मणिः सर्वविषहरः ।
(कौटिल्यार्थ० । अधि १४ । प्रकरण १७९)

इस वचन में सर्व विष हरने के लिए 'जीवन्ती' अपराजिता या अतीस, मोखा, नागकेसर, बन्दा, सोंजने या महानिम्ब पर हुआ पीपल, इन सबका इन सबके स्वरस की रसक्रिया या चूर्ण की मणि (गोली या टिकिया) बनाने का विधान है। अस्तु।

इस प्रकार वनस्पतियों के स्वरस से रसक्रिया वटी तथा उनके मूल, काण्ड, सार आदि की मणियां अथर्ववेद में कई वर्णित हैं हम उन सब का भी यहां विवेचन करते हैं।

जङ्गिड मणि—

अथर्ववेद काण्ड २ सूक्त ४ तथा काण्ड १९ सूक्त ३४-३५ में 'जङ्गिड' मणि का वर्णन है। वह जङ्गिड क्या है

* "पीलुमयो मणिरग्निगर्भः" (कौटिल्यार्थ० प्र० १७८)

यह हमें देखना है। सायण ने अथर्व० २।४ के भाष्य में तो बनारस में प्रसिद्ध एक वृक्ष बतलाया है "जङ्गिडः वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः" (अथर्व० २।४।१। सायणः) और अथर्व० काण्ड १६ सू० ३४ के भाष्य में उत्तर देश में प्रसिद्ध विशेष ओषधि बतलाई है। "जङ्गिडो नाम कश्चित् ओषधिविशेषः स च उत्तरदेशे प्रसिद्धः" (अथर्व० १६।३४।१) इस प्रकार सायण का वचन सन्दिग्ध तथा परस्परविरुद्ध होने से प्रमाण न रहा। 'अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका' में इन दोनों स्थलों पर देवता चन्द्रमा, जङ्गिड और वनस्पति को बतलाया है।

दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसमुत जङ्गिडदेवताकम्।

(अथर्व०–बृहत्सर्वा–२।४ पर १३)

जङ्गिडोसि जङ्गिड इति द्वे प्रथमं दशकं द्वितीयं
पञ्चकर्माङ्गिर उभे मन्त्रोक्तदेवत्ये उत वानस्पत्ये।

(अथर्व० बृहत्सर्वा० १६।३४, ३५ पर २२)

इसी प्रकार काण्ड १६। सू ३४ में उसे वनस्पति नाम से पुकारा है "उग्र इत्ते वनस्पते" (१६।३४।६) तथा का० २ सू० ४ में उसे अरण्य से लाई हुई बतलाया है "अरण्यादन्य आभृतः" (२।४।५)

इतने विवरण से यहां 'जंगिड' का स्वरूप निश्चय किया जा सकता है।

उपर्युक्त वचनों में जङ्गिड कोई वनस्पति है और वह चन्द्रमा से अभिन्न वस्तु है ऐसा कहा गया है। ऐसी वस्तु यहां सोम ओषधि है सोम एक वनस्पति भी है जैसा कि ऋग्वेद के सोमदेवता वाले नवम मण्डल में सोम को वनस्पति नाम दिया है। "वनस्पतिं पवमानमध्वा समङ्ग्धि धारया" (ऋ० ९। ५। १०) तथा सोम को चन्द्रमा भी कहते हैं "चन्द्रमा सोम-लताभेदे" (वैद्यक शब्दसिन्धुः) "अंशुमान्मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः। ...एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः" (सुश्रुत, चिकित्सास्थान। अ० २९। ३-६) अतएव अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका के "दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसमुत जङ्गिडदेवताकम्" इस वचन में (४। २) सूक्त का देवता चन्द्रमा तथा जङ्गिड कथन से 'जंगिड' का अर्थ यहां सोम है। 'जङ्गिड' शब्द 'जङ्गन्ति' वैदिक धातु से बना है 'जंगति' गति अर्थ में है "जङ्गन्ति गति-कर्मा" (निघं० २। १४) से बना छान्दस प्रयोग "जङ्गिड" है, जिसका अर्थ स्वयं अपनी तरंगों धाराओं द्वारा गति करने वाला है तथा सेवन करने वाले में ज्ञान और प्रगति की धाराओं को उत्पन्न करने वाला है। "पवस्व सोम धारया" "पवस्व सोम रंह्या" (ऋ० ९। १। १२। १) इत्यादि वेदवचनों से भी स्पष्ट है। अथर्व० का० २। सू० ४ में "दीर्घायुत्वाय" सोम को दीर्घ आयु देने वाला कहा है। तथा अथर्व० का० १९। ३५ में "देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम्" सोम को ब्राह्मणों का रक्षक तथा उपादेय कहा है। वेद में कहे हुए आयुवृद्धि

और विद्याप्राप्ति या बुद्धिप्राप्ति उक्त दोनों गुण सुश्रुत आयुर्वैदिक ग्रन्थ में सोम के सेवन से बतलाये भी हैं। "ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्। नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च। तस्यालमायुः क्षपणे समर्थाश्च भवन्ति हि॥ ... साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान् विन्दति तत्त्वतः (सुश्रुत चिकि० २९। १९–२४)। इस प्रकार विवेचन और प्रमाणों से जङ्गिड का अर्थ सोम ओषधि है और वह (अथर्व० २। ४) में सोमरसक्रिया से बनाई मणि अर्थात् गोली या टिकिया है। हां अथर्व० १९। ३४-३५) में जङ्गिड को मणि विशेषण न देने से यह 'जङ्गिड' सोमरस है जिसको पीने से उक्त लाभ होते हैं, अस्तु।

अब हम उपर्युक्त सूक्तों के अर्थ करते हैं। प्रथम अथर्व० का० २ सूक्त ४ को देते हैं।

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्॥ १॥

अर्थ–(वयम्) हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न होते हुए (सदा-एव) सदा ही (दक्षमाणाः) बढ़ते हुए "दक्षवृद्धौ" (भ्वादि०) (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिए दीर्घजीवन के लिए (बृहते रणाय) महान् रमण के लिए (विष्कन्धदूषणम्) स्कन्धों-जोड़ों के शैथिल्य को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिम्) अन्तः स्थल में तथा आत्मा में उन्नति की तरंगों को उठाने

वाली सोमरसक्रिया से बनी मणि–गोली टिकिया को (बिभृमः) धारण-सेवन करते हैं ॥ १ ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

अर्थ—(सहस्रवीर्यः-जङ्गिडः-मणिः) सहस्रशक्तिवाला सोमरसक्रिया गुटिकारूप जंगिड मणि (जम्भात) नाश से–क्षय से–देहपात से (विशरात्) शरीर के छिन्न भिन्न होने से (विष्कन्धात्) स्कन्धों जोड़ों के शैथिल्यभाव से (अभिशोचनात्) मोह आदि मानसिक रोग से (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिपातु) भली भांति रक्षा करे ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ—(अयम्) यह जङ्गिड मणि (विष्कन्धं सहते) स्कन्धों रहित सर्वथा शिथिल निःसत्त्व बनाने वाले विषप्रयोग आदि को सहता है उसे निर्बल करता है (अयम) यह (अत्रिणः-बाधते) राक्षसों रुधिर मांसभक्षक कृमियों को हटाता है–नष्ट करता है "अत्रिणो वै रक्षांसि" (ष० ३ । १) (अयं विश्वभेषजः- जङ्गिडः) यह समस्त रोगों का भेजपरूप

जंगिड औषधमणि (नः) हमें (अंहसः) दोष से रोग से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ—(देवैर्दत्तेन) देवों के द्वारा दी हुई (मयोभुवा) सुखसम्पादक (जङ्गिडेन मणिना) जङ्गिड मणि से (विष्कन्धम्) शरीर को शिथिल निःसत्व करने वाले विषप्रयोग को या विषप्रयोग की विकलता को। तथा (सर्वा रक्षांसि) सारे घातक कृमियों जन्तुओं को (व्यायामे) पौरुष-संघर्ष के अवसर पर (सहामहे) सहते हैं--उनके प्रभावों से रहित होते हैं ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—(शणः--च) शण (जङ्गिडः-च) और जङ्गिड सोमरसक्रिया गुटिकारूप मणि दोनों (विष्कन्धात्) विष-प्रयोग से (मा) मेरी (रक्षताम्) रक्षा करे (अरण्याद् अन्यः) जंगल से अन्य जङ्गिड सोम (कृष्याः–अन्यः) खेती से अन्य शण (आभृतः) लाया गया है "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" (अष्टा० वार्तिक-सूत्रम्) इस प्रकार (रसेभ्यः) रसों से सोम की रसक्रिया से बना हुआ ।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

अर्थ–(अयं जङ्गिडः-मणिः) यह जङ्गिड मणि (कृत्यादूषिः) कृत्या हिंसकक्रिया विषप्रयोग को दूषित करने वाली है (अथो) तथा (अरातिदूषिः) अपौष्टिक अवयवों तथा शरीराङ्गों का ह्रास करने वाले कृमियों को नष्ट करने वाली है (अथो) अनन्तर (सहस्वान्) उक्त दोषों को दूर करने वाली बल-सम्पन्न सोमरस-क्रिया से बनी गुटिका (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्रतारिषत्) आगे बढ़ावे ॥

इस सूक्त में 'जङ्गिड मणि' अर्थात् सोमरसक्रिया गुटिका के गुण बतलाएं हैं कि दीर्घायु स्वास्थ्य पुष्टि देने वाला, विषप्रयोग और शरीरह्रास क्षय का निवारक, शरीर के अन्दर रुधिरमांसभक्षक कृमियों का नाशक है। वह ऐसा जङ्गिड मणि सोम के स्वरस की रसक्रिया-गुटिका शण के योग से बनाई हुई उसमें गुटिका बनाने के लिए शण अन्दर डाल कर गोली बनाना लक्षित होता है । उस गुटिका के धारण सेवन से उसकी उड़नशील गन्ध और रस श्वास के साथ फुफ्फुसों के अन्दर जाने से लाभ होता है ।

दूसरा स्थल 'जंगिड' का है अथर्व० का० १६। सू०३४-३५। यहां मन्त्रों में जङ्गिड को मणि शब्द से सम्बोधित किया है

परन्तु वह सोम वनस्पति के बने जङ्गिड को घिस कर पान लक्षित होता है, अर्थसहित सूक्त यहां दिये जाते हैं।

जङ्गिडोसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥ १ ॥

अर्थ—(जङ्गिडः-असि जङ्गिडः) तू जंगिड सचमुच जंगिड है (जङ्गिडः) जंगिड (रक्षिता-असि) तू रक्षा का साधन है (जङ्गिडः) जंगिड (अस्माकम्) जो हमारे (द्विपात्) दो पैर वाला मनुष्य आदि (चतुष्पात्) चार पैर वाला गौ आदि है (सर्वम्) सब की (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १ ॥

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये।
सर्वान् विनक्तु तेजसोरसां जङ्गिडस्करत् ॥ २ ॥

अर्थ—(याः) जो (त्रिपञ्चाशीः-गृत्स्यः) तीन बार पचास[1] गर्धनशील अर्थात् शरीरधातुओं को खाने वाली व्याधियां है (च) तथा (ये शतं कृत्याकृतः) जो सौ सैकड़ों विषक्रिया करने वाले प्रयोग हैं (सर्वान्) सब को (तेजसः) तेज से (जङ्गिडः) जंगिड (विनक्तु) विचलित करे "विजि भयचलनयोः" (रुधादि०) तथा (अरसान् करत्) रसहीन कर दे।

१ शरीर के तीन भाग हैं एक शिर, दूसरा मध्य, तीसरा जघन अर्थात् नीचे का। इन प्रत्येक में पचास पचास व्याधियां होने से सब डेढ़ सौ हुईं।

अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः ।
अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ॥ ३ ॥

अर्थ—(जङ्गिड) हे सोमरसरूप जङ्गिड ओषधि ! तू (कृत्रिमं नादम्) कृत्रिम--स्फोटक पदार्थों से किए नाद को जो कि मस्तिष्क में या मन में भयरूप से बैठ गया है उसको (अरसम्) रसहीन–प्रभावहीन कर (सप्त विस्रसः) शत्रु के द्वारा छोड़ी हुई सात विद्युत्-धाराओं के प्रभावों या सात मूर्धा के छिद्रों–कानों आंखों नासिका छिद्रों और मुख में स्वयं बहते हुए रुग्ण छिद्र-स्रोतों को (अरसाः) निर्बल कर । तथा (अमतिम्) रोग महामारी या निर्बुद्धिता को (इतः) यहां से (इषुम्-अस्ता-इव) बाण को फैंकने वाले के सदृश (अप-शातय) नष्ट कर ॥ ३ ॥

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४॥

अर्थ—(अयं सहस्वान् जङ्गिडः) यह बलप्रद जङ्गिड-सोमरस (कृत्यादूषणः) कृत्याओं–हिंसकक्रियाओं को नष्ट करने वाला (एव) अवश्य है (अथो) तथा (अराति-दूषणः) शरीर के अन्दर अपौष्टिक अवयवों–रोगकारणों शरीर की क्षति के कारणरूप कृमियों का नष्ट करने वाला है (अथो) और (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्रता--रिषत्) पूर्ण करता है--बढ़ाता है ॥ ४ ॥

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः ।
विष्कन्धं येन सासहे संस्कन्धमोज ओजसा ॥५॥

अर्थ—(जङ्गिडस्य) जङ्गिड की (सः) वह यह (महिमा) प्रभाव (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिपातु) रक्षा करता है (येन) जिससे (ओजसा) ओज को प्राप्त करके उस से (विष्कन्धम्) अङ्गशैथिल्य रोग रूप (संस्कन्धम्) अङ्गकाठिन्य रोग रूप (ओजः) रोगबल को (सासहे) तिरस्कृत करता हूं ॥ ५ ॥

त्रिष्ट्वा देवा अजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि ।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥६॥

अर्थ—(भूम्याम्–अधि) भूमि में (निष्ठितम्) निहित–गुप्तरूप से रखे हुए (त्वा) तुझ सोमरूप जङ्गिड को (देवाः) देवताओं–विद्वानों ने (त्रिः-अजनयन्) तीन वार वर्षा, ग्रीष्म और शीत ऋतुओं में उत्पन्न किया है (तम्–उ त्वा) उस तुझको निश्चय (अङ्गिराः) अङ्गिराः अर्थात् अथर्ववेदविधि में विद्वान् कुशल या अग्नि या प्राण "अङ्गिरा वा अग्निः" (श० ६।४।४।४) "प्राणो वा अङ्गिराः" (श० ६।१।२।२८) तथा (पूर्व्याः–ब्राह्मणाः-इति) पूर्वकाल में उत्पन्न या श्रेष्ठ ब्राह्मण ही (विदुः) जानते हैं ॥ ६ ॥

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः ।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥

अर्थ—(त्वा) हे जंगिड सोम ! तुझे (न) न (पूर्वाः-ओषधयः) पहिली ओषधियां । तथा (त्वा) तुझे (न) न (याः-नवाः) जो नई ओषधियां हैं वे (तरन्ति) पार करती हैं–लांघती हैं (जङ्गिडः) जंगिडरूप सोम (उग्रः) उग्र प्रबल (विबाधः) रोग आदि का तिरस्कर्ता है । तथा (सुमङ्गलः) उत्तम कल्याण-साधक (परिपाणः) पूर्णरक्षक है ॥ ७ ॥

अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य ।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ ८ ॥

अर्थ—(अथ) तथा (उपदान) हे समृद्धि देने वाले (भगवः) भगवान् ऐश्वर्यवान् (अमितवीर्य) अतुल-शक्तिमान् (जङ्गिड) जंगिड सोम ! (उग्राः) तीव्र बलवान् या उग्र तपस्वी जन (ते) तेरा (पुरा ग्रसते) पूर्वकाल में भक्षण करते थे या प्रथम भक्षण करते थे । तथा तेरे अन्दर (इन्द्रः) इन्द्र ने–सूर्य ने (वीर्यम्) वीर्य प्रबल गुण (उपददौ) स्थापन किया है ॥ ८ ॥

उग्र इत्ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥ ९ ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति ! (ते) तेरे अन्दर (उग्र-इत्) निश्चित उग्र प्रबल (इन्द्रः) इन्द्र ने (ओज्मानम्) ओज अतिबल को (आदधौ) स्थापित किया

है (ओषधे) हे जंगिड ओषधि ! तू (सर्वाः) सब (अमीवाः) रोगों का (चातयन्) नाश करता हुआ (रक्षांसि) दुःख-दायक कृमियों को (जहि) नष्ट कर ॥

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥ १० ॥

अर्थ—(जङ्गिडः) जंगिड सोम (आशरीकम्) शरीर को पूर्ण आघात पहुंचाने वाले रोग को (विशरीकम्) किसी विशेष अङ्ग को तोड़ देने वाले रोग को (बलासम्) बलनाशक क्षय या कफरोग को (पृष्ट्यामयम्) पसलियों में छाती में होने वाले शूल रोग को (तक्मानम्) अति-कष्टदायक विषमज्वर को (विश्वशारदम्) समस्त शरद् ऋतु में रहने वाले पाण्डु रोग को (अरसान्) रसहीन शक्ति हीन निर्बल अर्थात् नष्ट (करत्) कर देता है ॥ १० ॥

तथा—

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः ।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥ १ ॥

(अथर्व० १९ । ३५)

अर्थ—(ऋषयः) ऋषियों ने (इन्द्रस्य नाम) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर का नाम ग्रहण करते हुए—ईश्वर का

आराधन उपासन करते हुए (जङ्गिडम्) सोम-रूप जंगिड ओषधि को (ददुः) खोजकर दिया है। पुनः (यम्) जिसको (देवाः) विद्वानों—आयुर्वेदविद्याकुशल विद्वानों ने (अग्रे) प्रथम प्रथम (विष्कन्धदूषणम्) शरीर को शिथिल करने वाले विषादिकृत रोग को नष्ट करने वाला (भेषजम्) भेषज ओषधि (चक्रुः) बनाया है ॥ १ ॥

स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव ।
देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम् ॥ २ ॥

अर्थ—(स जङ्गिडः) वह जंगिड सोम (धनपालः-धना-इव) धनपाल जैसे धन की ऐसे (नः) हमारी (रक्षतु) रक्षा करे (यम्) जिसको (देवाः-ब्राह्मणाः) विद्वान् ब्राह्मणों ने (परिपाणम्) परिरक्षक तथा (अरातिहम्) क्षयकारक प्राणी आदि का नाशक (चक्रुः) बनाया है ॥ २ ॥

दुर्हार्दः संघोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम् ।
तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय
परिपाणोसि जङ्गिडः ॥ ३ ॥

अर्थ—(दुर्हार्दः) हृदय के दुर्भावों—रोगों को (पापकृत्वानं संघोरं चक्षुः) पापकारी बुरी दृष्टि या बुरे नेत्र रोग को (आगमम्) मैं प्राप्त हो जाता हूं (तान्) उन रोगों

और दोषों को (त्वं सहस्रचक्षो) तू बहुत सचेत करने वाले मेधाजनक ! (प्रतीबोधेन) प्रतीबोध से प्रतीबोध देकर सात्विक यथार्थबुद्धि देकर (नाशय) नष्ट कर (जङ्गिडः परिपाणः-असि) जंगिडरूप सोम तू परिपालक है ॥ ३ ॥

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् परि मा वीरुद्भ्यः । परि मा भूतात् परि मोत भव्याद् दिशो दिशो जङ्गिडः पात्वस्मान् ॥ ४ ॥

अर्थ—(जङ्गिडः) सोमरूप जंगिड (मा) मेरी (दिवः) द्युलोक से (परिपातु) रक्षा करे (मा पृथिव्याः परि) पृथिवी से मेरी रक्षा करे (वीरुद्भ्यः-मा परि) ओषधियों से मेरी रक्षा करे (मा भूतात् परि) भूतकालिक दोष से मेरी रक्षा करे (अन्तरिक्षात् परि) अन्तरिक्ष से रक्षा करे (उत) तथा (भव्यात्-मा परि) भविष्य से मेरी रक्षा करे (दिशः- दिशः) दिशा दिशा से (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ॥ ४ ॥

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेन्यः । सर्वांस्तान् विश्वभेषजोरसां जङ्गिडस्करत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(ये) जो (देवकृताः) देव के किए ईश्वरीय या प्रकृति के देवों के किए (ऋष्णवः) उत्पात हिंसाकारक प्रभाव हैं "रिष हिंसायाम्" (भ्वादि०) 'रिकारस्य ऋकारश्छान्दसः' (उत) तथा (यः) जो (अन्यः) दूसरा

अपना किया—अपने अपराध से हुआ दुःख (ववृते) पुनः पुनः घेर रहा है (विश्वभेषजः-जङ्गिडः) समस्त ओषधियों के गुणों वाला सोमरूप जङ्गिड (तान् सर्वान्) उन सबको (अरसान्-करत्) अरस-निर्बल कर देता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार १६ वें काण्ड के इन दोनों ३४-३५ वें सूक्तों में सोम-रसरूप जङ्गिड को विषदोषनाशक, कृत्रिम विषक्रियाओं का नाशक, शरीर के अङ्ग अङ्ग में होने वाले रोग, कफरोग, पार्श्वपीड़ा, ज्वर, शरीर की शिथिलता, हृदय-रोग, नेत्ररोग को नष्ट करने वाला, आन्तरिक तथा अन्य कठिन रोगों का नाशक, स्वास्थ्य और आयुष्य को देने वाला निज के किए अपराध-रोगों और पाप-वासनाओं को दबाने वाला तथा दैविक उत्पातों के प्रभाव का नाशक बतलाया है। अस्तु।

पर्ण मणि—

अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त ५ में सोमलता को मणि कहकर वर्णन है। उक्त सूक्त का देवता 'अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका' में "आ त्वा गन् (३ । ४ । १) 'आयमगन्' इति द्वे सूक्ते, आद्यं सप्तकं द्वितीयमष्टकं पूर्वमैन्द्रमुत्तरं सौम्यम्।" (अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका) 'पर्ण मणि' दिया है "आयमगन् पर्णमणिर्बली" (१) 'पर्ण' सोम का नाम है जैसे शतपथ ब्राह्मण

में कहा है "सोमो वै पर्णः" (श० ६।५।१।१)। इसी सूक्त में पर्ण मणि को चतुर्थ मन्त्र में सोम कहा भी है "सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्" (४) पूर्व कहे 'जङ्गिडरूपसोम' के प्रकरण में "इन्द्रो वीर्यं दधौ ॥ उग्र इत्ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ" अथर्व० १६।३४।८।६) "दीर्घायुत्वाय" (अथर्व० २।४।१) में सोमरूप जङ्गिड का इन्द्र के साथ सम्बन्ध तथा दीर्घायु के लिए उसका सेवन बतलाया है एवं यहां भी सोमरूप पर्णमणि का इन्द्र के साथ सम्बन्ध और दीर्घायु के लिए सेवन करना कहा है। "सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः। तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥" (अथर्व० ३।५।४)। इस प्रकार तुलना से जंगिड मणि और पर्णमणि सोम के स्वरूप हैं। जंगिड मणि सोम की रस-क्रिया गुटिका है और पर्णमणि केवल पत्तों के रूप में ही है। इसे पर्णमणि इसलिए भी कहा गया है कि अन्य वनस्पतियों की मणियां प्रायः सारमणियां या मूलमणियां हैं उनके सार (बीच के काष्ठ भाग) से तथा उनकी जड़ों से बनती है परन्तु सोम कोई वृक्ष नहीं है एक लता है अतः इसके पत्तों की ही मणि बन सकती है इसलिए इसे 'पर्णमणि' कहा है। हो सकता है इस पर्णमणि के हरे पत्ते सूखे पत्ते पास रखने चबाने खाने या स्वरस पीने आदि में उपयोग हो। अस्तु। मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है।

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा
जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥

अर्थ—(अयम्) यह (बली) बलवान् बलवर्द्धक (पर्ण-मणिः) सोमपत्र मणि (बलेन) स्वबलप्रदान द्वारा (सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनष्ट करने के हेतु "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (अष्टा० ३।२।१२६) (आगन्) मेरे अन्दर तरंगों के रूप में आता है जो (देवानाम्) देवों आकाश के दिव्य पदार्थों का (ओजः) ओज-स्वरूप है तथा (ओषधीनां पयः) पृथिवी पर उगने वाली ओषधियों का सार है वह (अप्रयावन्) मेरे अन्दर सात्म्य होता हुआ (मा) मुझे (वर्चसा) वीर्य-बल प्रताप से (जिन्वतु) पूर्ण करे—भर दे ॥१॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२॥

अर्थ—(पर्णमणे) हे पर्णमणि—सोमपत्रमणि ! तू (मयि) मेरे अन्दर (क्षत्रम्) क्षात्रबल को मयि मेरे अन्दर (रयिम्) ऐश्वर्य को (धारयतात्) धारण करा—स्थापित कर (अहम्) मैं तेरे सेवन से (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के (अभीवर्गे) मण्डल में—पार्लियामैण्ट में (उत्तमः) उत्कृष्ट—प्रधान (निजः-भूयासम्) अपनाया जाऊँ ॥२॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥३॥

अर्थ—(देवाः) प्रकृति के देवों-विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों ने (वनस्पतौ) वनस्पति में (यं गुह्य प्रियं मणिम्) जिस रहस्यमय प्रिय मणि को (निदधुः) रखा है (तम्) उसको (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (आयुषा सह) आयु के साथ (देवाः) देव (भर्तवे) धारण करने के लिए (ददतु) देवें ॥३॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः । तं प्रियासं बहुरोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥४॥

अर्थ—(सोमस्य पर्णः) सोम का पत्र (उग्रं सहः) उग्र बलस्वरूप है । वह (इन्द्रेण दत्तः) सूर्यद्वारा दिया हुआ (वरुणेन शिष्टः) चन्द्रमाद्वारा विशिष्ट । गुण सम्पन्न किया हुआ (आगन्) प्राप्त हुआ है (तं बहुरोचमानः*) उस बहुत रोचमान रुचिकर सोमपर्ण को (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्ष के लिए दीर्घ जीवन के लिए (प्रियासम्) पसन्द करता हूं ॥४॥

---

* बहुरोचमानः, इति बहुरोचमानम् "सुपां सुलुक्०" (अष्टा० ७।१।३९) इति सुप्रत्ययः ।

आ मा रुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥५॥

अर्थ—(पर्णमणिः) सोमपत्र मणि (मह्यै) महती (अरिष्टतातये) कल्याणकारिता के लिए (मा) मेरे प्रति (आरुक्षत्) आरोहण करे–प्राप्त हो (यथा) जिससे कि (अहम्) मैं (अर्यम्णः) चक्रवर्ती राजा का (उत) तथा (संविदः) पूर्ण विद्वान् का (उत्तरः)उत्कृष्ट–उत्तराधिकारी (असानि) होऊं ।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥

अर्थ— (ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान् (रथकाराः) यान आदि यन्त्र बनाने वाले (कर्माराः) अन्य कर्मकुशल शिल्पी (ये) जो (मनीषिणः) मनस्वी योगी-ऋषि-मुनि हैं । उन (सर्वान्) सब मनुष्यों को (पर्ण) हे सोमपत्रमणि ! (त्वम्) तू सेवन किया हुआ मेरे अन्दर गुण लाकर (मह्यम्-उपस्तीन्-अभितः कृणु) मेरे लिये पास रहने वाले भरपूर कर ॥६॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् ... ॥७॥

अर्थ—(ये) जो (राजकृतः-राजानः) राजा को बनाने वाले राजा लोग हैं तथा (ये सूताः) जो मन्त्रीजन या रथनायक (च) और (ग्रामण्यः) ग्रामनेता हैं (उपस्तीन्) उन सब मनुष्यों को हे सोमपत्र मणि तू सेवन किया हुआ मेरे अन्दर गुणों को लाकर मेरे लिये पास रहने वाले खूब कर ॥७॥

पर्णोसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८॥

अर्थ—(मणे) हे सोमपत्रमणि ! तू (मया वीरेण) मुझ वीर राजा के साथ (सयोनिः) समानाश्रयी- एकाङ्ग (वीरः) वीरस्वरूप— वीरताप्रद गुणों वाला (तनूपानः) शरीर-रक्षक (पर्णः) पत्र (असि) हो बन "लिङर्थे लेट्" (तेन) इस लिये (संवत्सरस्य तेजसा) सूर्य के तेज से—तेज के निमित्त "एष वै संवत्सरो य एष आदित्यः तपति" (श १४ । १ । १ । १०) (त्वा) तुझे (बध्नामि) बांधता हूं ॥८॥

इस सूक्त में 'सोमपत्र मणि' धारण करने से राजा के अन्दर शत्रुओं को संग्राम में परास्त करने का बल और साहस प्राप्त होता है, निज वर्ग में प्रताप दीर्घजीवन स्वास्थ्य पौरुष प्राप्त होता है। तथा सोमपर्ण मणि धारण करने से बुद्धि का विकास होकर राष्ट्रव्यवस्था को भी उत्तम बना लेता है—कैसे कैसे राष्ट्र में विद्वान् शिल्पी राजा सदस्य और

पदाधिकारी होने चाहिएं इसका यथावत् गम्भीर विचार करके उन्हें उचित रूप में पदापन्न कर सकता है एवं राजा स्वयं सूर्य की भांति तजस्वी हो जाता है। अस्तु। अब इसके पश्चात् अन्य वानस्पत्य मणि पर विचार करते हैं।

शतवार मणि—

अथर्व वेद काण्ड १६ सूक्त ३६ में शतवार मणि का वर्णन है यह 'शतवार' नाम किसी आयुर्वैदिक निघण्टु में कहा हुआ नाम नहीं है किन्तु वेद का अपना यौगिक नाम है स्वयं वेद ने इसका निर्वचन भी किया है, छठे मन्त्र में कहा है–"शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम्। शतं शश्वन्तीनां शतवारेण वारये (६) यहां मन्त्र में स्पष्ट 'शतं वारये' शतवार से शत (सैंकड़ों रोगों) को वारण करता हूं 'शतं वारयतीति शतवार' अर्थात् सैकड़ों – बहुत रोगजातियों का वारण करने वाला 'शतवार' है। इसका आयुर्वैदिक नाम क्या है अब यह देखना है। स्वयं वेद ने ही पांचवें मन्त्र में इसका आयुर्वेदिक नाम भी बता दिया है "हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शतवारो अयं मणिः" (५) सुनेहरे शृङ्ग अर्थात् शृङ्ग- जैसे अग्रभागों नोकों वाला ऋषभ अर्थात् ऋषभक ओषधि यह शतवार मणि है। वेद ने ऋषभक ओषधि को यहां शतवार मणि कहा है। ऋषभक ओषधि का नाम ऋषभ भी है तथा जो उसके साथ 'हिरण्यशृङ्गः' शृङ्ग

का सम्बन्ध इस पञ्चम मन्त्र में तथा "शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते" (२) द्वितीय मन्त्र में बताया है सो ऋषभक ओषधि को 'शृङ्गी' कहा भी है और शृङ्ग अर्थात् सींग का आकार होता है। देखिए आयुर्वैदिक निघण्टु में इसके नाम और आकृति का वर्णन है।

ऋषभो गोपतिर्धीरो विषाणी दुर्धरो वृषः।
ककुद्मान् पुंगवो वोढ़ा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः ॥
(राजनिघण्टु)

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ।
रसोनकन्दवत् कन्दौ निस्सारौ सूक्ष्मपत्रकौ ॥
जीवकः कूर्चिकाकार ऋषभो वृषशृङ्गवत्।
(भावप्रकाश नि०)

इन वचनों में ऋषभ ओषधि जिसे ऋषभक भी कहते हैं उसे शृङ्गी नाम भी दिया है। उस की आकृति लहसुन के कन्द - जैसे. परन्तु दोनों ओर शृङ्गाकार बनी होती है। अतः यहां सूक्त में ऋषभक ओषधि ही शतवार मणि कही गई है। ऋषभक अष्टवर्ग की ओषधियों में से एक है जिन्हें आजकल अप्राप्य कहा जाता है परन्तु ये अप्राप्य नहीं। इन नामों से इनका व्यवहार नहीं रहा अन्य नाम हो गए। ऋषभक ओषधि हमारी सम्मति में "सालव मिश्री" है उसकी आकृति वही है जो ऋषभक की बतलाई है कि लहसुन-जैसी सालव मिश्री होती है। सालव मिश्री भी दो प्रकार

की है, छोटी और बड़ी। बड़ी ऋषभक है और छोटी सम्भवतः जीवक हो। गुण भी सालव मिश्री के ऋषभक। जैसे हैं, सालव मिश्री पौष्टिक वीर्यवर्द्धक है और हिमालय में होती है। अब मन्त्रार्थ करते हैं।

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥ १ ॥

अर्थ—(शतवारः-मणिः) सैंकड़ों बहुत रोगों का निवारण करने वाली 'ऋभषक' ओषधिमणि (तेजसा) तेज से स्वकीय तीव्र गुण स्व-प्रभाव से (यक्ष्मान्) रोगों को तथा (रक्षांसि) रक्तभक्षक कृमियों को (अनीनशत्) भली प्रकार नष्ट करती है (वर्चसा सह-आरोहन्) और अपने गुण बल के साथ शरीर में आरोहण करती हुई शरीर की रक्त आदि धातुओं पर अधिकार जमाती हुई (दुर्णामचातनः) बुरे नाम वाले अकथनीय गुह्यरोगों को नष्ट करने वाली होती है ॥ १ ॥

शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः।
मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति ॥ २ ॥

अर्थ— (शृङ्गाभ्याम्) दोनों सिरों से (रक्षः) रक्त आदि धातुओं के भक्षक कृमियों को (नुदते) ताड़ित

करता है नष्ट करता है (मूलेन) मूल से (यातुधान्यः) हिंसाकारक बाह्यक्रियाओं तथा उनके प्रभावों को नष्ट करता है (मध्येन) मध्य से (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को बाधते हटाता है (पाप्मा) "ज्वर पाप्मा ज्वरे" (रस-र -वैद्यक शब्दसिन्धु) (एनन्) इस ऋषभक को (न) नहीं (अतितत्रति) अतिप्लवन करता है—लांघता है।

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः।
सर्वां दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(ये यक्ष्मासः) जो रोग (अर्भकाः) छोटे (महान्तः) बड़े (ये च) और जो (शब्दिनः) शब्द-वाले कराहट शब्द कराने वाले या केवल रोग हैं ऐसा कहे जाने वाले हैं किन्तु वास्तविक निदान और चिकित्सा में सन्दिग्ध हैं ऐसे उन (सर्वान्) सब रोगों को (दुर्णामहा) गुह्य रोग-नाशक (शतवारः-मणिः) ऋषभक नाम वाली ओषधि (अनीनशत्) सर्वथा नष्ट कर देती है ॥ ३ ॥

शतं वीरानजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत्।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४ ॥

अर्थ—(शतं वीरान् अजनयत्) उक्त 'ऋषभक' ओषधि बहुत पुत्रों को उत्पन्न करती है "पुत्रो वै वीरः" (श० ३ । ३ । १ । १२) (शतं यक्ष्मान् अपावपत्) बहुत रोगों को

नष्ट करती है (सर्वान् दुर्णाम्नः-हत्वा) सब गुह्य रोगों को नष्ट करके (रक्षांसि-अवधूनुते) रक्तभक्षक कृमियों को नष्ट करती है।

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृडढ्वा रक्षांस्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(अयं शातवारः-मणिः) यह शतवार ❀ मणि (हिरण्यशृङ्ग ऋषभः) सुनेहरी-से पीले रंग वाले सिरों वाला ऋषभक ओषधि है (सर्वान् दुर्णाम्नः) वह सब गुह्य रोगों को (तृड्ढ्वा) छिन्न भिन्न करके (रक्षांसि) रक्त भक्षक कृमियों को (अक्रमीत्) हटा देता है—परास्त कर देता है॥

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम्।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥ ६ ॥

अर्थ—(अहम्) मैं (शतं दुर्णाम्नीनाम्) बहुतेरे गुह्यरोगों को (शतं गन्धर्वाप्सरसाम्) बहुतेरे शरीर में गन्ध-छोड़ने वाले और रक्त में गति करने वाले कृमियों को (शतं शश्वन्तीनाम्) बहुतेरी पुरानी व्याधियों को (शतवारेण)

❀ शतवार एव शातवारः स्वार्थे अण् प्रत्ययः।

बहुत रोगों को हटाने वाली 'ऋषभक' ओषधि से (वारये) वारित करता हूं—हटाता हूं ॥

इस सूक्त में ऋषभकरूप शतवार मणि को क्षय जैसे कठिन रोग, रक्त आदि भक्षक कृमि, गर्भ सम्बन्धी गुह्य-रोग, ज्वर, सन्दिग्ध रोगों, मांस आदि दूषित रूप, पुरानी व्याधियों को नष्ट करने वाला तथा पुत्रोत्पत्ति शक्ति देने वाला बतलाया है। दुर्णाम अर्थात् गुह्यरोगों को दूर करने का पुनः पुनः आवर्तन दर्शाता है कि स्त्री पुरुष के उपस्थ योनि आदि सम्बन्धी सभी रोगों को यह ऋषभक ओषधि रूप शतवार मणि अवश्य सर्वथा दूर करती है, आयुर्वैदिक निघण्टुओं में भी इसके गुण ऐसे ही बतलाए हैं—

ऋषभको मधुः शीतो गर्भसन्धानकारकः ।
शुक्रधातुकफानां च कारको बलदायकः ॥
वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः पित्तरक्तातिसारजित् ।
रक्तरुक् कृशतावातज्वरदाहक्षयापहः ॥

(नि० र०)

यहां आयुर्वैदिक निघण्टु में 'ऋषभक' ओषधि के तुलनात्मक गुण देखें उसे गर्भसन्धानकारक अर्थात गर्भस्थापन-कराने वाला, शुक्र अर्थात् वीर्य का बढ़ाने वाला, बलदायक, वृष्य, पुष्टिकर, कृशतानाशक, ज्वरनाशक, क्षयनाशक कहा है ॥

औदुम्बर मणि—

अथर्ववेद काण्ड १६ सूक्त ३१ में 'औदुम्बर मणि' का वर्णन है। यह भी वानस्पत्य मणि है, उदुम्बर गूलर वृक्ष को कहते हैं। मणि प्रकरण के प्रारम्भ में हम बतला आए हैं कि मणियों के तीन प्रयोजन हैं जो कि भूषा-शोभा, मन में प्रसन्नता, शान्ति और वीरता के भाव लाना, तीसरे रोगों और विषों का अनाक्रमण तथा उनका प्रतीकार। भूषा-शोभा के प्रसङ्ग में भी बतला दिया गया है कि न केवल शरीर की ही भूषा या शोभा के लिए मणियां धारण की जाती हैं किन्तु आसन्दी (कुरसी) मेज आदि उपकरणों पर भूषा-शोभा के लिए शङ्ख, काचमणि, आदि पदार्थ लगाए और रखे जाते हैं। मकान की भूषा-शोभा के लिए बारहसिंगे का सींग, हाथी दांत, हीरे पन्ना आदि मणियां भित्ति छत आदि में लगाई जाती हैं एवं ग्राम की शोभा-भूषा तथा सार्वजनिक और पशुओं के हित के लिए औदुम्बर मणि वनस्पतिरूप में (वृक्ष के रूप में) ग्राम में लगाना उसे सुरक्षित रखना चाहिए ऐसा ही इस सूक्त के मन्त्रों से सिद्ध होता है। जैसे मन्त्र ६ में उसे वनस्पति कहकर सम्बोधन किया है "यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे" (६) तथा इस मणि को मन्त्र १२ में 'ग्रामणी' ग्राम का नेता साथ में 'अभिषिक्त' जल से सींचा हुआ भी कहा है "ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च

वर्चसा ॥" (१२) इस प्रकार ग्राम में लगा हुआ उदुम्बर (गूलर) ग्राम की शोभा को बढ़ाता है साथ में अन्य अनेक लाभ भी वेद ने ऐसे बतलाए हैं जिनका खाने के साथ सम्बन्ध है जैसे मन्त्र ११ में "स त्वमस्मत्सहस्व"·········क्षुधं च ।" क्षुधा (भस्मक रोग) को हमसे दूर कर। क्षुधानिवृत्त करने का खाने के साथ सम्बन्ध है। उदुम्बर का फल क्षुधा और तृषा को दूर करने वाला है यह बात आयुर्वैदिक निघण्टु रत्नाकर में भी कही है "उदुम्बरः शीतलः स्याद्······। कोमलं चास्य फलं ······तत्पक्वं······रक्तरुक्पित्तदाहक्षुत्तृषाश्रमप्रमेहहम् ।" (नि० र०) उदुम्बर के फल क्षुधानाशक हैं इस विषय में अन्य शास्त्रों के प्रमाण भी देखने योग्य हैं। "उदुम्बरफलं पक्वमङ्कोलतैलपाचितम् । भुक्त्वा मासं क्षुधां हन्ति पिपासां नात्र संशयः" (सिद्धनागार्जुन कक्षपुट कौतुकक्षापाः । ७) "शिरीषोदुम्बरशमीचूर्णं सर्पिषा संहृत्या-र्धमासिकः क्षुद्योगः," (कौटिल्यार्थ शास्त्र । १७८ प्र०) इन वचनों में कहा है कि उदुम्बर फल को अङ्कोल बीज के तैल में पकाकर खाने से एक मास तक क्षुधा नहीं सताती। दूसरे योग में शिरस, उदुम्बर, शमी को घृत में मिलाकर खाने से आधे मास कत क्षुधा नहीं लगती। इस प्रकार उदुम्बर के फलों से क्षुधा की निवृत्ति होती है यहां सूक्त में ऐसा होने से उदुम्बर का वृक्षरूप में ग्राम के अन्दर रखना ही उसका मणि होना अभीष्ट हैं। अन्य भी इसके कई कारण हैं स्वयं सूक्त में कहे हैं जो आगे बतलाए जावेंगे, अब सूक्तार्थ करते हैं।

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा ।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥१॥

अर्थ—(औदुम्बरेण) उदुम्बर वृक्षों के समूह-रूप * (वेधसा) प्रजापति पदवाच्य (मणिना) ग्राम की शोभा करने वाली मणि के द्वारा (सविता) उत्पादक परमेश्वर या उत्पत्ति-शक्ति-वर्द्धक सूर्य (मे पुष्टिकामाय) मुझ पुष्टि चाहने वाले के लिये (गोष्ठे) गोष्ठ में गौओं के बाड़े में (सर्वेषां पशूनाम्) सब पशुओं की (स्फातिम्) वृद्धि—समृद्धि को (करत्) करे ॥ १॥

ग्राम के बीच या ग्राम के किसी एक किनारे पर कुछ उदुम्बर वृक्षों का समूह होना चाहिए वहां गौ भैंस आदि के नित्य बैठने उठने विश्राम पाते रहने से उन गौ आदि पशुओं की वृद्धि होती है। वह उनमें पुष्टि और सन्तति-शक्ति देता है आगे यह विषय आने वाला है। इस प्रकार गोष्ठ तथा गौओं पशुओं के साथ उदुम्बर का सम्बन्ध वृक्ष-रूप में ही सम्भव है यह सिद्ध होता है।

* "औदुम्बर" इस पद के सम्बन्ध में सायण ने "तस्य विकारः इति अण् प्रत्ययः" विकार अर्थ में अण् प्रत्यय बतलाया है परन्तु यहां अण् नहीं है क्योंकि वेद में यहां "औदुम्बरेण" पद आद्युदात्त है अण् होने पर प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होना चाहिए था। परन्तु यहां तो समूह अर्थ में अञ् प्रत्यय है अञ् के ञित् होने से "ञ्नित्यादिर्नित्यम्-" (अष्टा० ६ । १ । १९७) से आदि उदात्त हो जाता है।

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।
औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्टया ॥२॥

अर्थ—(यः) जो (औदुम्बरः-वृषा मणि) सुख-वर्षक उदुम्बर-समूह रूप शोभायमान मणि (नः) हमारे (पशूनाम्) पशुओं का (गार्हपत्यः-अग्निः-अधिपाः) पालक गार्हपत्य अग्नि (असत्) है (सः) वह (पुष्टया) पुष्टि समृद्धि के साथ (मा सृजतु) मुझे संयुक्त करे ॥२॥

इस मन्त्र में बतलाया है कि जैसे मनुष्यों के घर में गृहपति—घर के स्वामी के साथ सम्बन्ध रखने वाली गार्हस्थ्य धर्म का अधिनायक गार्हपत्य अग्नि होती है एवं पशुओं के घर—बाड़े—हाते—घेरे या उनके बैठने आदि के स्थान-रूप घर में उदुम्बर-समूह गार्हपत्य अग्नि है यही उनके अन्दर गार्हपत्य अग्नि का काम करता है उसकी छाया का सेवन फल पर्ण आदि का खाना उन्हें गर्भस्थापन एवं सन्ततिशक्ति को प्रदान करता है, इस कथन से भी उदुम्बर के वृक्ष का गोष्ठ में खड़े रहना ही वहां लक्षित होता है ॥ २ ॥

करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे ।
औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ—(धाता) परमेश्वर या सूर्य (औदुम्बरस्य तेजसा) उदुम्बरवृक्षसमूह के प्रभाव से (मे) मेरे लिये

(करीषिणीम्) गोबर करने वाली स्वस्थ नित्यपुष्ट "नित्यपुष्टां करीषिणीम्" (महानारायणोप०) (फलवतीम्) सन्तति वाली (इराम्) गौ को "इला गोनाम्" (निघं० १ । ११) (च) और (स्वधाम्) अन्न सम्पति को (पुष्टिम्) पुष्टि को (नः-.गृहे) हमारे घर में (दधातु) धारण करावे--स्थापित करे ॥ ३ ॥

यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः ।
गृह्णे ३हं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥४॥

अर्थ—(यत् च द्विपात्) जो भी दोपैरवाले पुत्रादि (चतुष्पात् च) और चार पैर वाले गौ आदि पशु (यानि-अन्नानि) जो अन्न हैं (ये रसाः) जो स्वादु रस दूध आदि हैं (एषां तु) उन सभी के (भूमानम्) बाहुल्य–आधिक्य अधिकता को (अहम्) मैं (औदुम्बरं मणिं बिभ्रत्) उदुम्बर वृक्षों के शोभायमान समूह को धारण करता हुआ रखता हुआ (गृह्णे) प्राप्त करता हूं ॥ ४ ॥

उदुम्बर वृक्षों तथा उनके फल आदि के सेवन से निज सन्ततिवृद्धि और पशुसन्ततिवृद्धि होती है, पशु सन्तति-वृद्धि से दूध आदि रस और अन्नों की वृद्धि होती है ॥४॥

पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ॥५॥

अर्थ—(अहम्) मैं (पशूनां पुष्टिम्) पशुओं की पुष्टि–पशुओं का पुष्ट होना (च) और (द्विपदां चतुष्पदाम्) दो पैर वालों तथा चार पैर वालों का (धान्यम्) अन्न-भोजन (परिजग्रभ) स्वायत्त करता हूं। तथा (पशूनां पयः) पशुओं के दूध को (ओषधीनां रसम्) ओषधियों के रस को (सविता) उत्पादक (बृहस्पतिः) महान् परमेश्वर या सूर्य (मे) मेरे लिए (नियच्छात्) देवे।

उदुम्बर वृक्षों के द्वारा पशुओं में पुष्टि और, ओषधियों में रस अन्न की वृद्धि होती है। इसलिए उदुम्बर वृक्षों का गोष्ठस्थानों खेतों में रहना अत्यावश्यक है ॥ ५ ॥

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपति-
र्दधातु । मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नियच्छतु ॥६॥

अर्थ—(अहम्) मैं (पशूनाम्) पशुओं का (अधिपाः) स्वामी (असानि) होऊं (पुष्टपतिः) पोषण शक्ति का पालक उदुम्बर-समूह (मयि) मुझ में (पुष्टं दधातु) पोषण धारण करावे (औदुम्बरः-मणिः) उदुम्बरवृक्ष समूह मणि (मह्यम्) मेरे लिए (द्रविणानि) बलों "द्रविणं बलनाम" (नि० घं० २।९) (नियच्छतु) देवे ॥६॥

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरामागन् सह वर्चसा ॥ ७ ॥

अर्थ—(औदुम्बरः-मणिः) उदुम्बर-वृक्ष-समूह मणि (मा) मुझे (प्रजया च) सन्तति से (धनेन च) और धन से (उपागन्) प्राप्त हो तथा (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर या सूर्य से (जिन्वितः) प्रेरित किया हुआ (मणिः) उदुम्बर-वृक्ष समूह मणि (वर्चसा सह) गुण प्रभाव से (मा) मुझे 'उपागन्' प्राप्त हो ।

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये ।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नियच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ—(देवः- मणिः) सुख देने वाला यह उदुम्बर वृक्ष समूह मणि (सपत्नहा) रोगरूप शत्रुओं का नाशक (धनसाः) गौ आदि समृद्धिरूप धनैश्वर्य का सेवन कराने वाला (धनसातये) उक्त धनैश्वर्य के सेवन कराने के लिए (पशोः) पशु के (अन्नस्य) अन्न के (भूमानम्) बाहुल्य अधिकता को (गवाम्) गौओं के (स्फातिम्) वृद्धि फैलाव को (नियच्छतु) प्रदान करे ॥ ८ ॥

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे ।
एवा धनस्य मे स्फातिमादधातु सरस्वती ॥ ९ ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति ! (यथा) जैसे (त्वम्) तू (अग्रे) प्रथम ही (पुष्ट्या सह) पुष्टि के साथ

वृद्धि समृद्धि के साथ (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है (एव) इसी प्रकार तेरे सेवन और वास से (सरस्वती) गौ "सरस्वती गौः" (मेदिनी) (मे) मेरे लिए (धनस्य) धन की ऐश्वर्य की (स्फातिम्) समृद्धि को (आदधातु) स्थापन करे ॥ ६ ॥

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपावहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

अर्थ—(सरस्वती) गो (मे) मेरे लिए (धनम्) धन (धान्यम्) धान्य-अन्न (पयस्फातिं च) और दूध की वृद्धि को (आ 'आवहात्') प्राप्त करावे । तथा (अयम्-औदुम्बरः-मणिः) यह उदुम्बर-वृक्ष-समूह-रूप मणि (च) और (सिनीवाली) गौ "या गौः सा सिनीवाली" (ऐ० ३ । ४८) (उपावहात्) उक्त ऐश्वर्य को प्राप्त करावे ॥ १० ॥

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।
त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्
सहस्वारादरातिमतिं क्षुधं च ॥ ११ ॥

अर्थ—(त्वम्) तू (मणीनाम्-अधिपाः) अन्य मणियों का या मणिरूप गौओं का रक्षक । तथा (वृषा-असि) सुखवर्षक है (पुष्टपतिः) सब रक्षकों के पुष्ट करने वाले परमेश्वर या सूर्य ने (त्वयि) तेरे अन्दर (पुष्टं जजान)

पोषण धर्म को उत्पन्न किया है (त्वयि) तेरे अन्दर (इमे वाजाः) ये बल। तथा (सर्वा द्रविणानि) सब अन्न धन हैं (सः- त्वम्- औदुम्बरः) वह तू उदुम्बरवृक्षसमूह (अस्मत्) हमारे से (अरातिम्) अलाभ को (अमतिम्) रोग को (च) और (क्षुधम्) क्षुधा को (आरात्-सहस्व) दूर भगा ॥ ११ ॥

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मा सिञ्च वर्चसा। तेजोसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥ १२ ॥

अर्थ—(ग्रामणीः-असि) तू ग्रामणी है-ग्राम का आश्रयभूत है तू (ग्रामणीः) ग्रामणी (अभिषिक्तः) अभिषिक्त हुआ (उत्थाय) उठकर बढ़कर शाखादि से पूर्ण होकर (मा) मुझे (वर्चसा) तेज से (सिञ्च) सींच (तेजः-असि) तू तेजोरूप है (मयि-अधि) मेरे अन्दर (तेजः) तेज को (धारय) धारण करा (रयिः-असि) तू ऐश्वर्यरूप है (मे) मेरे में (रयिं धेहि) ऐश्वर्य धारण करा ॥ १२ ॥

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु। औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—(पुष्टिः-असि) तू पुष्टिरूप है (मा) मुझे (पुष्ट्या समङ्ग्धि) पुष्टि से संयुक्त कर (गृहमेधी) तू गृहमेधी—गृहपति है (मा गृहपतिं कृणु) मुझे गृहपति कर (औदुम्बरः सः-त्वम्) उदुम्बर समूह तू (अस्मासु) हमारे में (रयिं धेहि) ऐश्वर्य धारण करा (च) और (नः) हमारे लिए (सर्ववीरम्) सब पुत्रसामर्थ्य को—वीर्य को नियच्छ) दे (अहम्) मैं (रायस्पोषाय) ऐश्वर्य पोषण के लिए (त्वाम्) तुझे (प्रतिमुञ्चे) स्वीकार करता हूं ॥ १३ ॥

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च
नः सर्ववीरं नियच्छात् ॥ १४ ॥

अर्थ—(अयम् औदुम्बरः-मणिः) यह उदुम्बर वृक्ष समूहरूप मणि (वीरः) वीर—वीर्यशक्तिगुणसम्पन्न है (वीराय) वीर्यशक्ति के लिए—पुत्रोत्पत्ति शक्ति प्राप्ति के लिए "पुत्रो वै वीरः" (श० ३ । ३ । १ । १२) (बध्यते) बांधा जाता है । उद्यान आदि की भांति सुरक्षित रखा जाता है (सः) वह (नः) हमारे लिए (मधुमतीं सनिम्) गुणवती उपभोग-क्रिया को (कृणोतु) करे (च) और (नः) हमारे लिए (सर्ववीरं रयिं नियच्छात्) सब पुत्र-शक्ति वाले ऐश्वर्य गुण को प्रदान करे ॥ १४ ॥

इस सूक्त में "उदुम्बरमणि" अर्थात् उदुम्बर वृक्ष-समूहरूप मणि के गुण बहुत बतलाए हैं जिनमें उससे पुष्टि का प्राप्त होना तो बार बार कहा गया है मानो यह गुण विशेष तथा अनिवार्य है इसके साथ गौ आदि पशुओं की वृद्धि अन्नैश्वर्य की समृद्धि बलप्राप्ति क्षुधारोग को दूर करना, निराशा कृपणता के भाव को हटाना और पुत्रोत्पत्ति-शक्ति का देना आदि बतलाए हैं। इसी प्रकार आयुर्वैदिक शास्त्रों में भी इसके उक्त गुण कहे हैं—

१–उदुम्बरः शीतलः स्याद् गर्भसन्धानकारकः।

२–योनिरोगं नाशयति।

३–वल्कं दुग्धं तुवरं गर्भ्यम्।

४-कोमलं चास्य च फलं···स्यान्मांसवृद्धिकरं मतम्।

५-तत्पक्वं च···रक्तरुक् पित्तदाहक्षुत्तृषाश्रमप्रमेहहम्।

६-शोषमूर्च्छाहरं प्रोक्तं पूर्वैः स्वे स्वे निघण्टुके।

(नि० र०)

इन आयुर्वैदिक निघण्टु-वचनों में इसे गर्भसन्धान-कारक, योनि-रोग नाशक और इसकी छाल को गर्भबीज-कारक कहा है इससे वेद में कहे पुत्रोत्पादक और गौ आदि पशुओं की वृद्धि करने वाला बतलाना अत्यन्त उचित है तथा फल मांसवर्द्धक, प्रमेहनाशक, शोष हटाने वाला होने से वेद का पुष्टि-कारक कहना भी सुसमीचीन है। जब गौ आदि पशुओं

की वृद्धि इससे होती है तब धन अन्न ऐश्वर्य का देने वाला भी स्वयं सिद्ध हो जाता है। गौओं के अधिक होने से कृषि-द्वारा अन्न की वृद्धि भी होती है।

अभीवर्त मणि—

अथर्ववेद काण्ड १ सूक्त २६ में अभीवर्त्त मणि का वर्णन है। 'अभीवर्त' का अर्थ है अभिवर्तन अर्थात् आक्रमण करने का साधन। शत्रु पर जिस साधन के द्वारा आक्रमण किया जावे उसका नाम अभीवर्त है जैसा कि ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा है "अभीवर्तन वै देवा असुरानभ्यवर्त्तन्त" (तां० ८। २। ८) यहां सूक्त में भी इस 'अभीवर्त' का उक्त प्रयोजनार्थ वर्णन है "अभिवृत्य सपत्नान्भि या नो अरातयः। अभिपृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥" (२)। अब यह देखना है कि वह शत्रु पर आक्रमण का साधन 'अभीवर्त' मणि क्या है। कुछ थोड़े हेर फेर से यही सूक्त ऋग्वेद मण्डल १० में सूक्त १७४ है। उसकी तुलना से 'अभीवर्त' का स्वरूप जाना जा सकता है। इस सूक्त का केवल प्रथम मन्त्र यहां देते हैं जो निम्न है—

अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्तय॥

(ऋ० १०।१७४।१)

इसकी तुलना करें अथर्ववेद के प्रस्तुत सूक्त के प्रथम मन्त्र से—

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्धय ॥
(अथर्व० १ । २९ । १)

यहां देखें अथर्ववेद में 'अभीवर्तेन मणिना' और ऋग्वेद में 'अभीवर्तेन हविषा' पाठ है। ऋग्वेद के पाठ से इस 'अभीवर्त' मणि का निश्चय किया जा सकता है क्योंकि ऋग्वेद में दिए उसी 'अभीवर्त' का 'हविः' के स्थान में अथर्ववेद में 'मणि' विशेषण रखा है। 'अभीवर्त' अर्थात् शत्रु पर आक्रमण करने का साधन 'हविः' से तात्पर्य है गन्धक आदि खनिज तथा जङ्गम और स्थावर विष का अग्निद्वारा धूम करना–धूमवायु का फैलाना है। वही हविः-वस्तु अथर्ववेद में भी अभीष्ट है पर उसे मणि कहा है–मणिरूप में गोले के रूप में (बम के रूप में) लेना चाहिए ऐसा स्पष्ट तुलना से सिद्ध होता है। हां, इस गोले में लोहे आदि धातुओं का मिश्रण करके गोला बनाकर शत्रु पर फेंकना चाहिए। अस्तु। अब अथर्ववेद के 'अभीवर्त मणि' सम्बन्धी मन्त्रों का सक्रम अर्थ देते हैं।

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अर्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे पुरोहित ! (येन-अभीवर्तेन मणिना) जिस अभीवर्त मणि–शत्रु पर आक्रमण के

साधन-स्फोटक और विषले द्रव्यों लोहे आदि धातुओं से बने गोले–बम के प्रयोग से (इन्द्रः) राजा (अभिवावृधे) समृद्धि को प्राप्त होता है–आगे बढ़ता है* (तेन) उससे (राष्ट्राय) निज राष्ट्रहित के लिए (अस्मान्) हमें (अभि-वर्धय) समृद्ध कर–आगे बढ़ा ॥ १ ॥

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अर्थ—(सपत्नान्) शत्रुओं पर (अभिवृत्य) आक्रमण करके (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) अदानवृत्तिवाली--हमारा सहाय न देने वाली या ऐश्वर्य का अपहरण करने वाली शत्रु-सेनाएं हैं। उन पर (अभि) आक्रमण करके (पृतन्यन्तम्) संग्राम चाहते हुए–संग्राम करते हुए पर (अभि) आक्रमण करके (यः) जो (नः) हमारा (दुरस्यति) बुरा चाहता है। उस पर भी (अभितिष्ठ) आक्रमण कर ॥ २ ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥३॥

अर्थ—(त्वा) हे अभीवर्त मणि शत्रुओं पर आक्रमण के साधन रूप कृत्रिम गोले ! तुझे (सविता देवः)

* "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (अष्टा ३ । ४ । ६) सामान्य काल में लिट् ।

सूर्य या अग्नि देव "अग्निरेव सविता" गो० पू० १ । ३३) (अभि-अवीवृधत) शत्रुओं के सम्मुख बढ़ाता है फैलाता है तथा (सोमः) सोम-वायु "यो ऽयं वायुः पवते एष सोमः" (श० ७। ३। १। १) "अन्तरिक्षदेवत्यो हि सोमः" (गो० उ० २ । ४) (अभि) शत्रुओं के सम्मुख बढ़ाता है फैलाता है। तथा (त्वा) तुझे (विश्वा भूतानि) समस्त तेरे अन्दर की वस्तुएं (अभि) शत्रुओं के सम्मुख फैलाती हैं (यथा) जिस प्रकार तू (अभीवर्तः) शत्रुओं पर आक्रमण का साधन (असति) हो जावे ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥४॥

अर्थ—(अभीवर्तः-मणिः) अभीवर्त मणि शत्रुओं पर आक्रमण का साधन गोला (अभिभवः) आक्रमणकारी । तथा (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने वाला है (सपत्नेभ्यः पराभुवे) शत्रुओं के पराजय-हार के लिए तथा (मह्यं राष्ट्राय) मेरे राष्ट्र के लिए या मेरे लिए राष्ट्र हो इस-लिए (बध्यताम्) बन्ध जावे-गोलरूप में तैयार हो जावे ॥४॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥५॥

अर्थ—(असौ सूर्यः) वह सूर्य (उदगात्) उन्नत हुआ है (इदं मामकं वचः) यह मेरा घोषणावचन (उत्)

उन्नत हुआ है (यथा) जिससे (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रु-नाशक (असपत्नः) शत्रुरहित (सपत्नहा) शत्रु-घातक (असानि) होऊं ॥ ५ ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥६॥

अर्थ—(सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का क्षय करने वाला (वृषा) बलवान् (अभिराष्ट्रः) राष्ट्र का अधिकर्त्ता राष्ट्रशासक (विषासहिः) शत्रु पर प्रत्याक्रमणकारी होऊं ❀ (यथा) जिससे (अहम्) मैं (एषां वीराणाम्) इन वीरों सैनिकों का (च) और (जनस्य) जनपद का-देश का + (विराजानि) ईश्वर हो जाऊं-अधिपति बन जाऊं ॥६॥

इस प्रकार अभीवर्त मणि शत्रु पर आक्रमणकारी साधनरूप गोले (बम) को तैयार करके शत्रुओं पर आक्रमण करना यह धनुर्विद्या की बात है कोई मन्त्र, जादु, गण्डा, तावीज की बात नहीं है । अस्तु ।

प्रतिसर मणि—

अथर्व वेद के काण्ड ८ सूक्त ५ में 'प्रतिसर' मणि का वर्णन है । इस सूक्त में २२ मन्त्र हैं, हम इन सबका

❀ 'असानि' क्रिया की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति आती है ।

+ 'जनः' अधिकरणे घञन्तः प्रयोगः ।

ग्रन्थविस्तारभय से अर्थ न करेंगे तथा अर्थ भी प्रायः एक-जैसे और सरल हैं एवं आगे आने वाले मणिसम्बन्धी सभी मन्त्रों के अर्थ न करेंगे। यथासुखीन के रूप में तो खनिज आदि उत्पत्ति-स्थान के भेद से मणियों के समस्त मन्त्रों के अर्थ दे चुके ही हैं। 'प्रतिसर' का अर्थ है मण्डल घेरा अर्थात् अपनी सेना के चहुं ओर घेरा बनाना कि जिस में से प्रतिसरण अर्थात् शत्रु के कृत्यारूप आक्रमण विषैली वस्तुओं के प्रयोग को उलटा फेंकने का काम करता है। जैसे पूर्व प्रकरण में 'अभीवर्त' मणि का वर्णन था उसके द्वारा शत्रु पर आक्रमण करना, एवं इस सूक्त में 'प्रतिसर' मणि से शत्रु के विषरूप कृत्याप्रयोग के प्रभाव को अपने ऊपर न आने देना तथा पीछे लौटाना होता है। पूर्वोक्त मणि 'अभीवर्त' है तो यह 'प्रतिसर' मणि 'प्रतीवर्त' है, स्वयं इसी सूक्त के मन्त्र ४ में इस प्रतिसर' को 'प्रतीवर्त' कहा भी है।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः॥४॥

मन्त्र का आशय है यह 'स्राक्त्य' दिशाओं में फैलने वाला ❀ या माला जैसे घेरे में स्थापित 'प्रतीवर्त' शत्रु

❀ "दिशो ह्यस्य स्रक्तयः" (छान्दोग्य० ३ । १५ । १)
मन्त्र में कहा भी है "अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः" (अथर्व० ८।५।३)

के आक्रमण का प्रतिकार करने वाला 'प्रतिसर' नाम का बड़ा ओजस्वी संग्रामों को वश करने वाला हमारी सब ओर से रक्षा करे। यह 'प्रतिसर' मणि विषनाशक उग्र ओषधियों का बनाया जाता है जैसे मन्त्र ११ में कहा है।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव० ॥११॥

ओषधियों के मिश्रण से मणि अर्थात् गोली छोटी या बड़े गोले के रूप में बनाना वेद को अभीष्ट है अन्यत्र कहा भी है।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः।

(अथर्व० ८।७।१४)

इस 'प्रतिसर' मणि की गन्ध एवं गुणों, तथा प्रभावों को सूर्य अपनी किरणों से छोड़ता है और फैलाता है जैसा कि मन्त्र १४ में कहा है

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपत्वा समैरयत् ॥१४॥

इस 'प्रतिसर' मणि के मालाकार मण्डल में होने से सैकड़ों गोलों के संघ का नाम 'प्रतीवर्त' है जैसा कि मन्त्र १५ में इसे 'शतपर्वा' कहा है।

प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥१५॥
अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥१६॥

यहां यह तात्पर्य है कि हे राजन् ! शत्रु जो विषप्रयोग-क्रियाओं से मारना चाहता है उसे सैंकड़ों पर्वों-वाले इस 'प्रतिसर' मणिरूप वज्र के द्वारा प्रतिगति से पीछे लौटा कर मार । यह 'प्रतिसर' अवश्य शत्रु के आक्रमण को पीछे फेंकने वाला ओजस्वी विजय का साधन मणि है वह अपनी सेनारूप प्रजा और धन का उत्तम रक्षक है । यह 'प्रतिसर' मण्डलरूप में मणि अपने सेना-दल के सब ओर फैलाया जाता है जिससे शत्रुकृतकृत्याओं को पीछे फेंकता रहे और जिस मण्डल या घेरे में सैकड़ों ही 'प्रतिसर' मणियां लगी होती हैं, जैसे मन्त्र ५ में बतलाया है ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः
प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥

वे हमारे सामने की सूर्यकिरणें या हमारे आगे हुए दिव्यप्रयोग शत्रु की विषादिकृत कृत्याओं को इन प्रतिसरों घेरे में प्रतिकार करने वाले सैंकड़ों विषनाशक औषध-गोलों के द्वारा पीछे लौटाते हैं। 'स्राक्त्य मणि' के सम्बन्ध में अथर्व वेद में अन्यत्र भी ऐसा ही सङ्केत किया है।

स्राक्त्योसि प्रतिसरोसि प्रत्यभिचरणोसि ।
शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि ।

(अथ० २ । ११ । २,५)

यहां 'प्रतिसर' मणि को दिशाओं में फैलने प्रत्याक्रमण करने वाला शुक्र (शुभ्र) भ्राज (ज्वलन्त) स्वः (तापक) ज्योतिरूप कहा है। उक्त प्रतिसर मणियों का घेरा हमारे लिए कवच बनकर काम आता है यह भी मन्त्र ७ में कहा है।

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

जो मनुष्य इस 'प्रतिसर' मणि को घेरे रूप प्रतिकारक मणिमण्डल को अपना वर्म अर्थात् कवच बनाते हैं उनके द्वारा प्रयुक्त 'प्रतिसर' मणि सूर्य जैसे आकाश में आरूढ़ हो अन्धकार और दोषों को हटाता है ऐसे ही शत्रु की विषकृत्याओं को हटाता है। यह प्रकरण भी आयुर्वेद तथा विज्ञान का अनुसरण करता हुआ धनुर्विद्या–शस्त्रास्त्रविद्या का विषय है मन्त्र जादू या गण्डा तावीज का नहीं।

दर्भ मणि—

अथर्ववेद काण्ड १६ सूक्त २८–३०, ३२, ३३ इन पांच सूक्तों में दर्भ मणि का वर्णन है, पूर्व की भांति विस्तारभय

तथा प्रायः विषय की समानता और मन्त्रों की सुगमता के कारण हम यहां भी प्रत्येक मन्त्र का अर्थ नहीं करेंगे केवल 'दर्भ मणि' पर ही विचार करेंगे कि वह क्या है। पांचों सूक्तों के मन्त्रों पर विचार करने से यहां दर्भ का अर्थ दाभ या कुशा घास नहीं है किन्तु "दर्लिभ्यां भः" (उणा० ३। १५१) से बाह्य शत्रु के लिए उपद्रवों और आन्तरिक कृमियों तथा दोषों एवं रोगों को विदीर्ण–छिन्न भिन्न करने वाला कोई वज्ररूप वस्तु है। 'राज निघण्टु' में वज्र का पर्याय दर्भ शब्द दिया है "दर्भे च कुशिके वज्रम्" (राजनिघण्टु। व० २३) अभ्रक को वज्र कहते हैं "नीलाभ्रं दर्दुरा नागः पिनाको वज्र इत्यपि" (राजनिघण्टु व० १३)। इसके अतिरिक्त हमारी इस धारणा में मन्त्रवर्णन-रूप वेद की स्वयं अन्तःसाक्षी भी है हम यहां मन्त्रों के कुछ वर्णन और आयुर्वेद-निघण्टुओं में दिए अभ्रक के गुणों को तुलना के लिए प्रदर्शित करते हैं।

मन्त्रवर्णन–	आयुर्वेदवर्णन–
१–"इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे। दर्भ···(अथ० १६।२८।१) दीर्घायु के लिए इस दर्भ-मणि को तेरे बांधता हूं।	"अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायुःकरं धातुविवर्धनं च (भावप्रकाश नि०) अभ्रक आयुवर्धक है।

२–"दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेन शश्वदित्। (अथ० १९।३२।७) द्युलोक में स्तम्भित अर्थात् तना या लटका हुआ दर्भ।

"गगनात् स्खलितं यस्माद्गगनं च ततो मतम् [अभ्रकम्]" (भाव० प्र० नि०) गगन से स्खलित हुआ अभ्रक अभ्र बादल दिविष्टम्भ–द्युलोक में तना या लटका हुआ होता है (यह नाम की तुलना)

३–"सहस्रपर्ण उत्तिरः। दर्भो० (अथ० १९।३२।१) "पयस्वान्···स नोयं दर्भः" (अथ० १९।३३।१) सहस्र अर्थात् * बहुत पत्रों वाला दर्भ। जलवाला दर्भ।

"अभ्रकं···अब्दं व्योमघनं शुभ्रं बहुपत्रं घनाह्वकम्" (शालिग्राम नि०) 'अब्द' जल देने वाला 'बहुपत्र' बहुत पत्रों वाला (अभ्रक में बहुत पत्ते होते हैं)

४–"बाध्नमि जरसे स्वस्तये" (अथ० १९।३३।४) वृद्धावस्था तक पहुंचने के लिए दर्भ को बांधता हूं।

"दृढयति वपुः" (भावप्र०नि०) शरीर को दृढ़ करता है।

५–"यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत्पर्जन्यो विद्युता सह। ततो

"पुरा वधाय वृत्रस्य वज्रिणा वज्रमुद्धृतम्। विस्फुलिङ्गास्त

* "सहस्रं बहुनाम" (निघ० ३।१)

हिरण्ययो विन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥ (अथ० १६।३०।५) जो मेघरूप समुद्र बिजुली के द्वारा गर्जा तो उससे चमकदार विन्दु हुआ पुनः उससे दर्भ हुआ ।

तस्तस्माद् गगने परिसर्पिताः। ते निपेतुर्घनध्वानाः शिखरेषु महीभृताम् । तेभ्य एव समुत्पन्नं तत्तद्गिरिषु चाभ्रकम् ॥ तद् वज्रं वज्रपातत्वाद् अभ्रमभ्ररवोद्भवात् । गगनात्स्खलितं यस्माद् गगनं च ततो मतम् ॥"

(भावप्रकाश नि०)

इन्द्र अर्थात् विजुली ने पूर्वकाल में वृत्रवध के लिए वज्र को उठाया ऊपर फेंका उससे चिनगारियां मेघ गर्जना करती हुई पर्वतों के शिखरों पर गिरीं इन चिनगारियों से पर्वतों पर अभ्रक उत्पन्न हुआ । वह वज्र है वज्रपात के कारण, वह अभ्रक है अभ्र गर्जना से उत्पन्न होने के कारण, वह गगन है गगन से गिरने के कारण ।

६–"प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च। यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥"

(अथ० १६।३२।८)

हे दर्भ ! तू मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए प्रिय बना जिस किसी के लिए हम कामना करते हैं उस सबके विशेष देखने दिखाने वाले के लिए भी।

"विप्रक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्तस्माच्चतुर्विधः। क्रमेणैव सितं रक्तं पीतं कृष्णं च वर्णतः।"

(भावप्रकाश निघं०)

अभ्रक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञक हैं जो क्रमशः सफेद, लाल, पीला और काला होता है।

इस प्रकार तुलना से यह स्पष्ट हो रहा है कि यहां सूक्तों में कहा दर्भ अभ्रक है। अब इस अभ्रक का उपयोग मन्त्रों में दो प्रकार से वर्णन किया है एक तो शरीर पर उसका वर्म (आवरणकारक कवच) जैसा कि कहा है।

यत्ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नां जहि वीर्यैः ॥

(अथ० १६।३०।१)

दर्भ अर्थात् हे अभ्रक ! समस्त वर्मों–आवरण-कवचों में तेरा वर्म–आवरण कवच 'जरामृत्युशतम्' ❀जरा और

❀ 'जरामृत्युशतम्' इति सायणः।

मृत्यु का नाशक है उससे तू इस राजा को (वर्मिणम्) वर्म वाला आवरण-कवचवाला बनाकर अपने गुण-बलों से शत्रु को नष्ट कर। 'अभ्रक' का वर्म (आवरण कवच) बनाया जाता है यह कहा है। अब लीजिए किस अङ्ग के लिए यह वर्म बनाना आवश्यक है वह भी दिया है।

नास्य केशान् प्रवपन्ति नोरसि ताडमाघ्नते ।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ॥
(अथर्व० १६ । ३२ । २)

इसका आशय है पुरोहित अच्छिन्नपर्ण अर्थात् जिसके पत्ते शस्त्र से नहीं कटते हैं ऐसे उस दर्भ–अभ्रक के द्वारा जिस राजा के लिए सुख चाहता है उसके 'केशान् न प्रवपन्ति' शत्रुजन केशों सिर के बालों को नहीं उखाड़ सकते ❀ नहीं बिगाड़ सकते और 'न उरसि ताडमाघ्नते' न छाती पर वार का आघात कर सकते हैं। इस प्रकार सिर और छाती की रक्षा अभ्रक के वर्म (आवरण कवच जरोबखतर) के द्वारा करने का विधान है। अभ्रक का सिर के लिए शिरोवेष्टन टोपी टोप और छाती के उरोवेष्टन या वक्षोवेष्टन (जरोबखतर) बनाना चाहिए क्योंकि अभ्रक पर तलवार आदि शस्त्र से काट नहीं होती बल्कि शस्त्र कुण्ठित हो जाता है।

❀ "वप मुण्डतन्तुबीजोप्त्योः" (कविकल्पद्रुमः) वपति मस्तकं नापितः ।
"शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्" (मनु:० ५ । १४०)

अभ्रक का उपयोग धनुर्विद्या की दृष्टि से भी है यहां अथर्ववेद में इसकी चर्चा की है।

दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः।
(अथर्व० १६ । ३३ । ५)

.........सपत्नान् जहि वीर्यैः ।
(अथर्व० १६ । ३८ । १)

दर्भ–अभ्रक के द्वारा शत्रुओं को मारने के लिए वर्णन किया है। संग्राम के जहाजों में कांच के स्थान पर अभ्रक लगाते हैं क्योंकि कांच तो गोला - बारूद के धमाके से टूट जाता है किन्तु अभ्रक नहीं टूटता। यह कहा जाता है कि अभ्रक पर विद्युत् का प्रभाव नहीं पड़ता संग्राम में विद्युत् के अस्त्रों का वार रोकने में भी काम होता है। स्वयं भी वज्र नाम होने से अस्त्र के मसाले में पड़ने से आघातकारी हो सकता है और शत्रुदल को मार सकता है जैसा कि 'भावप्रकाश निघण्टु' में लिखा है "दर्दुरं त्वग्निनिक्षिप्तं कुरुते दुर्दुरध्वनिम्। गोलकान् बहुशः कृत्वा स स्यान्मृत्युप्रदायकः" (भावप्रकाश नि०) अर्थात् दर्दुर जाति का अभ्रक अग्नि में डालने से गड़गड़ाहट ध्वनि करता है और बहुत गोले बना कर मार सकता है। इस कथन से अभ्रक को अस्त्र (बम) आदि में डाला जा सकना भी सम्भव है। इस प्रकार दर्भ नाम से कहा इतना गुणकारी और प्रभावकारी पदार्थ यहां अभ्रक ही है। इसी के वर्म आवरण कवच और अस्त्रमणि के रूप में यहां है॥ अस्तु॥

वरण मणि—

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ३ में 'वरण मणि' का वर्णन है और उसके २५ मन्त्र हैं यहां भी प्रत्येक मन्त्र का अर्थ पूर्व की भांति विस्तारभय आदि कारणों से नहीं करेंगे, हां 'वरण' मणि पर विचार अवश्य करना है। मन्त्र ११ में इसे वनस्पति कहा है तथा छाती पर धारण करने को बतलाया है।

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ॥११॥

इस मन्त्र से दो बातें प्रकट होती हैं एक तो यह कि 'वरण' मणि वनस्पति है और दूसरे इसे छाती पर धारण करने से हृदय की रक्षा करता है तथा हृदय-रोग को दूर करने के लिए और कभी संग्राम आदि जैसे विकट अवसर पर हृदय घबराए नहीं इसलिए इसे भी अभ्रक की भांति आवरक (जरोबख्तर कवच) के रूप में धारण करना चाहिए। छाती पर धारण करने से रात्रि में सोते हुए स्वप्नभयों से भी बचा सकेगा ऐसा भी सङ्केत सूक्त में है।

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम्। परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥६॥

स्वप्न सोकर–नींद लेकर नींद में यदि तू कोई बुरा स्वप्न देखे कि सिंह आदि भयङ्कर जंगली पशु अयोग्य रीति से तुझ पर आक्रमण करता है तो उससे तथा बुरी डरावनी बोली वाले पक्षी के डराने झपटने से यह 'वरण' मणि तुझे बचावेगा। 'वरण' वनस्पति आयुर्वैदिक 'वरुण' और 'वरण' नाम का एक वृक्ष है जिसे लोकभाषा में 'बरना' कहते हैं। 'वरण' वनस्पति के गुण आयुर्वैदिक ग्रन्थों में कहे जैसे ही बतलाए हैं—

वरुणो वरणः सेतुस्तिक्तशाकः कुमारकः।

(भावप्रकाश निघण्टु)

वरुणो···कृमीन् रक्तदोषं शीर्षवातं मूत्राघातं च हृद्रुजम्। हृद्रोगं नाशयत्येव। (नि० र०)

इन वचनों में स्पष्ट ही 'वरण' को हृद्रोग और हृदयशूल को हटाने वाला कहा है। तथा 'शीर्षवात' सिर की वात को नष्ट करता है इससे भी यह सिद्ध होता है कि स्वप्न में भय आदि से भी 'वरण' रक्षा करता है कारण कि स्वप्न का आना, नींद का ठीक न आना या स्वप्न में भय आदि का लगना सिर में वातप्रकोप से होता है उसे 'वरण' बरना नष्ट कर देता है। 'वरण' कृमिनाशक भी है और अनेक रोगों को भी नष्ट करता है यहां वेद ने भी इसका उपयोग विशेषतः रोग दूर करने में बतलाया है।

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ ५॥

यह 'वरण' बरना वनस्पति रोग को हटा देता है जो यक्ष्म रोग इस मनुष्य के अन्दर प्रविष्ट हुआ है उसको देव विद्वान् इसके द्वारा हटाते हैं। मन्त्र में 'वरण मणि' वरने का छाती पर धारण करना कहा है। हृदय-रोग छाती में शूल और सोते हुए हृदय में भय न हो इसके लिए 'वरण' बरना के नव पल्लवों कोंपलों का स्वरस या कल्क का वस्त्र आदि पर आलेप (पालिश) करके उरोवस्त्र पहनना तथा औषधरूप में गुटिका गोली बनाकर सेवन करना भी उचित है। औषधरूप इसकी जड़ की या जड़ की छाल की गोली बनाकर सेवन करना भी उपयोगी हो सकता है। अस्तु।

फाल मणि--

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ६ में 'फाल मणि' का वर्णन है। सूक्त में मन्त्र ३५ हैं यहां पर भी पूर्व की भांति विस्तारभय आदि के कारण प्रत्येक मन्त्र के अर्थ न करेंगे। प्रत्युत कुछ मन्त्रों द्वारा 'फाल' मणि क्या है यही विचार करेंगे। इस सूक्त का यह फाल मणि न तो आयुर्वैदिक दृष्टि से और न संग्राम की दृष्टि से कोई शरीर पर धारण करने वाली

वस्तु है किन्तु इससे भिन्न है। इस 'फाल' मणि को समझने के लिए प्रथम एक ऐसे मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं जिसमें ऐसी ही भिन्न मणि का वर्णन है। मन्त्र यह है—

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः। इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥

(अथर्व० ६ । ३० । १)

अर्थ — (देवाः-मधुना संयुतम्-इमं यवम्) देवों ने मधुरगुण से युक्त इस यव–जौ अन्न को (सरस्वत्याम्-अधि मणौ-अचर्कृषुः) नदी* के तटरूप भूमिभाग में बोय (शतक्रतुः-इन्द्रः सीरपतिः-आसीत्) असंख्य-क्रिया-शक्ति-वाला इन्द्र खेतपति था (सुदानवः-मरुतः कीनाशाः-आसन्) उत्तम दानशील मरुत किसान थे।

इस मन्त्र में कृषि का प्रकरण है और वह नदी के 'मणि' पर। यहां मणि का अर्थ नदी का तटरूप भूमिभाग है यह निःसन्देह है। लोक में नदी की मण कूएं की मण शब्द तटरूप भूमिभाग के लिए प्रयुक्त होते भी हैं यहां लोकभाषा में मणि की ह्रस्व मात्रा 'इ' का उच्चारण नहीं होता या लोप हो गया है जैसे "विधि" का विध, "रीति" का रीत, "प्रीति का

* "सरस्वती नदीनामसु" (निघ० १ । १३)

प्रीत। उक्त मन्त्र से मणि शब्द विशेष भूमिभाग के अर्थ में जैसे प्रयुक्त होता है ऐसे ही अर्थ में अथर्व० का० १० सूक्त ६ का 'फाल' मणि भी है। यह बात पाठक निम्न मन्त्रों द्वारा देखें।

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा ॥२॥

अर्थ—(अयं मणिः फालात्-जातः) यह मणि हल में लगे हुए भूमि में घुसने वाले लोहे के फाल से प्रकट हुआ या उत्पन्न हुआ (मह्यं वर्म करिष्यति) मेरे लिए--मेरे जीवन के लिए 'वर्म' प्राणों का आवरण रक्षण करने के साधन-रूप यव आदि अन्न को उत्पन्न करेगा (मन्थेन पूर्णः) मन्थन से पूर्ण—फालमन्थन हल-जोतने से पूर्ण—पूर्ण जोता हुआ (रसेन वर्चसा सह मा-आगमत्) रसभरे अन्न के साथ या हरे शाक फल तथा तेजोरूप खाद्य यवादि अन्न के साथ मुझे प्राप्त हो। "रसोऽन्ननाम" (निघं० २।७) "वर्चोऽन्ननाम" (निघं० २।७)।

मन्त्र के इस वर्णन से कि 'फालात् जातः' फाल से प्रकट या उत्पन्न और मन्थन तथा अन्न आदि से पूर्ण यह मणि है जिसका नाम 'फालमणि' आगे मन्त्रों में दिया है। प्रथम तो 'फाल' से जात होने--प्रकट होने से यह 'फाल'

मणि है यहां तद्धित प्रत्यय का छान्दस लुप् (लोप) है। दूसरे यह अन्नों से भरा जोता हुआ फाल से प्रकट हुआ पदार्थ क्या हो सकता है वह ऐसा 'फालमणि' यहां क्यारियों से उत्पन्न हराभरा क्षेत्र–खेत ही है यही निःसन्देह उत्तर मिलेगा, और देखिये अगला मन्त्र।

यत्त्वा शिक्वः परावधीत्तक्षा हस्तेन वास्या।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥३॥

अर्थ—(शिक्वः-हस्तेन तक्षा वास्या त्वा यत् परावधीत्) हे हरे-भरे खेत रूप मणि ! अव्यक्त बोली वाला बन्दर आदि प्राणी हाथ से या छेदन करने वाला मनुष्य द्रान्ति, कुठार आदि से तुझे नष्ट करता है–बिगाड़ता है (तस्मात्) तो (जीवलाः शुचयः-आपः) जीवन देने वाले शुद्ध जल (त्वा शुचिं पुनन्तु) तुझे फिर शुद्ध वैसे ही रूप में पवित्र करें–पूर्ण करें ॥

इस मन्त्र में 'फालमणि' हरे भरे खड़े खेत को प्राणियों और मनुष्यों के द्वारा नष्ट होने की सम्भावना बतलाई और जलों से सींचने द्वारा ठीक होने बढ़ाने की सूचना दी है इससे तो 'फालमणि' हरा भरा खेत ही है, इस विषय की स्पष्ट पुष्टि है, और लीजिए।

ऋतवस्तमबध्नतार्तवस्तमबध्नत।
संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं विरक्षति ॥१८॥

अर्थ—(ऋतवः-तम्-अबध्नत) उस खेतरूप फाल मणि को ऋतुएं बांधती हैं—सम्भालती हैं (आर्तवाः-तम्-अबध्नत) ऋतुओं में होने वाले मास उसे बांधते हैं--सम्भालते हैं (संवत्सरः-तं बद्ध्वा सर्वं भूतं विरक्षति) संवत्सर--वर्ष उसे बांध कर सम्भालकर समस्त प्राणीमात्र की रक्षा करता है ।

मन्त्र के इस वर्णन में 'फालमणि' हरा भरा खेत-रूप भूमिभाग ही है क्योंकि महीने ऋतुएं और संवत्सर उसे सम्भालते हैं और वह प्राणियों की जीवनरक्षा का साधन है ।

स मायं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥

(सः-अयं मणिः-व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह) वह यह मणि चावल-यव अन्नों के साथ महती विभूति ऐश्वर्यता के साथ (मा-आगमत्) मुझे प्राप्त हो ॥ पुनः—

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ॥३२॥

(देवाः पितरः-मनुष्याः-यं सर्वदा-उपजीवन्ति) देव पितर और मनुष्य सर्वदा जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं ।

इस कथन में भी जीवन का आधार 'फालमणि' हरा भरा खेत रूप भूमि सिद्ध होती है । अब लीजिए विशेष वचन—

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति ।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु ॥२३॥

(यथा फालेन कृष्टे) जैसे ही फाल से--हलके फाल से जोत देने पर (उर्वरायां बीजं रोहति) उपजाऊ भूमि में बीज उग सके बढ़ सके (एवा) ऐसे (मयि) मेरे निमित्त इस 'फाल' से प्रकट खेतरूप 'फाल' मणि द्वारा * (प्रजा) सन्तति (पशवः) गौ आदि पशु (अन्नम्-अन्नम्) अन्न-अन्न, अन्न पर अन्न अधिकाधिक अन्न (विरोहतु) उत्पन्न हो सके-बढ़ सके ॥

यह कथन 'फाल' मणि खेतरूप भूमि भाग है इसके लिये निर्णय-सदृश वचन है । 'फालमणि' भूमिभाग है इसका अन्तिम निर्णय भी लीजिए ।

तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ॥१२॥

(तेन मणिना) हल की फाल से प्रकट होने योग्य खेत भूमिभागरूप उस फाल मणि से (अश्विनौ-इमां कृषिम्-अभिरक्षतः) अश्विनौ इस कृषि-बीज बोना उत्पन्न करना काटनारूप खेती को सम्भालते हैं ।

इस प्रकार इस सूक्त में हल में लगे 'फाल' से प्रकट हुए 'फालमणि' (खेतरूप भूमिभाग) का रहस्य खुल

---

* "अयं मणिः फालाज्जातः" (२)

जाता है वास्तव में देखा जावे तो खेतरूप भूमिभाग एक महत्वपूर्ण मणि है–बहुमूल्य वस्तु है इसके बिना जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता है इसका रहना और बांधना अत्यावश्यक है। खेत-रूप भूमि-भाग नाम की फालमणि को खदिर- खैर कीकर आदि*कण्टीले झाड़ झंकाड़ों से सब ओर उसकी सीमाओं पर बाढ़ बांधना ही इस खेत-रूप 'फाल मणि' का बांधना है। यह 'फालमणिबन्धन' कोई मन्त्र, जादू, गण्डा, तावीज की बात नहीं किन्तु कृषिविद्या का विषय है।

अथर्ववेद के इन मन्त्रों में 'मणि' नाम देकर कही हुई सब मणियों पर हमने इस ग्रन्थ में विचार किया है पाठकों ने देखा होगा कि वेद का मणिबन्धन साम्प्रदायिक विषय या मिथ्या-कल्पित तान्त्रिक मन्त्र यन्त्र तन्त्र या नक्श गण्डा तावीज जादू का विषय नहीं है किन्तु वैज्ञानिक, आयुर्वैदिक, धनुर्विद्या शस्त्रास्त्रविद्या और कृषिविद्या से सम्बन्ध रखने वाला कितना महत्वपूर्ण विषय है। अस्तु। अब इसके आगे 'कृत्या-अभिचार' विषय पर विचार करते हैं।

---

* "यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।"
(अथ० । १० । ६ । ६)

षष्ठ पटल

कृत्या-अभिचार

अथर्ववेद में बहुत से स्थलों पर 'कृत्या और अभिचार' के प्रयोगों को शत्रु एवं शत्रु-सेना पर फेंकने और प्रेरित करने के लिये कहीं पर अलग अलग और कहीं पर दोनों का एक साथ भी वर्णन आता है। 'कृत्या' से तात्पर्य हिंसकक्रिया है जो कि शत्रु-सेना के घात के लिये प्रयुक्त की जाती है। यह इसका शाब्दिक साधारण स्वरूप है क्योंकि "कृञ् हिंसायाम्" (स्वादि०) से 'कृत्या' शब्द बना है, एवं अभिचार का आशय उस प्रयोग से है जो कि शत्रु के शरीर में प्रविष्ट हो उसे व्याधित तथा पीड़ित कर

मार डालने में समर्थ हो। यह इसका शाब्दिक साधारण स्वरूप है क्योंकि "चर भक्षणे" (भ्वादि०) से अभिपूर्वक 'अभिचार' शब्द बना है जो शत्रु के शरीर पर आक्रमण कर या अन्दर प्रविष्ट हो उसे खा जाता है। अस्तु। अब इन दोनों का अलग अलग विशेष स्वरूप और वर्णन करते हैं।

कृत्या विचार—

कृत्या के सम्बन्ध में अथर्व वेद में अनेक स्थल हैं जिनमें कि कृत्या का स्वरूप, कृत्या का कार्य, कृत्या की संख्याएं या भेद, कृत्या के आधार, कृत्या के पात्र, पर-कृत्या का अवरोध-प्रतिकार आदि वर्णन हैं। हम यहां इन सभी पर विचार करेंगे और साथ साथ मन्त्रार्थ तथा कचित् कचित् समस्त सूक्त के अर्थ भी देंगे परन्तु विस्तारभय से सुगम मन्त्रों और सूक्तों के अर्थ न करेंगे। अस्तु।

कृत्या का सामान्य स्वरूप—

कृत्या के सम्बन्ध में लोगों के अन्दर एक भ्रम फैला हुआ है। जनसाधारण 'कृत्या' को मन्त्र अर्थात् मूठ जादू टोना समझते हैं, यह भ्रम अर्वाचीन तान्त्रिक लोगों ने फैलाया हुआ है परन्तु प्राचीन तन्त्रग्रन्थों में यह बात नहीं है वहां मन्त्र से तात्पर्य किसी गुप्त अस्त्र-शस्त्र से है जो शत्रु-सेना का घात कर सके।

मन्त्रों का वर्णन करते हुए "उड्डीश तन्त्र" ग्रन्थ में लिखा है कि "मुसलं क्षोभणे बन्धे शृङ्खला···नाराचः सैन्यभेदने (उड्डीशतन्त्र । ४४-४६) यहां देखिये 'नाराच' यह एक अस्त्र है इसे मन्त्र नाम से कहा है। और लीजिए "विश्वमूर्तिः स्फुलिङ्गिन्यसौ धूमवर्णा मनोजवा। लोहिताख्या करालाख्या काली तामस्य ईरिताः। एताः सप्त युञ्जन्ति क्रूरकर्मसु मन्त्रिणः।" (उड्डीश तन्त्र १४०) इस वचन में अग्नि की सात ज्वालाओं का वर्णन है जैसे मुण्डकोपनिषद् में आया है "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥" (मुण्डको० १ । २ । ४) यहां तुलना करें वे ही मुण्डकोपनिषद्-वाली अग्नि की सात ज्वालाएं तन्त्र-वचन में भी हैं केवल क्रम उलटा है। उक्त तन्त्र-वचन में शत्रुसेना-नाश के लिए कृत्या-प्रयोग का वर्णन है यहां तीन वचन विशेष ध्यान देने योग्य हैं 'एताः सप्त युञ्जन्ति' 'क्रूरकर्मसु' 'मन्त्रिणः' मन्त्रीजन क्रूर कर्मों में अर्थात् शत्रु-सेना-नाश के कार्यों में इन सात ज्वालाओं को काम में लाते हैं। अग्नि की ज्वालाओं द्वारा क्रूर हिंसा कृत्यारूप हिंसा कार्य करने वाले को 'मन्त्री' कहा है। इसलिए मन्त्र का अर्थ अग्निज्वालाओं के द्वारा अग्नि में वनस्पति सम्बन्धी तथा खनिज विष डाल कर उनकी रंग-विरंगी ज्वालाओं को उत्तेजित कर शत्रु-सेना के लिए हिंसाप्रयोग करना मन्त्र है। अब आगे चलिए 'कृत्या' के सम्बन्ध में लिखा है कि "पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः" (कौटिल्यार्थ शास्त्र ।

प्रकरण १५०-१५२) पुरोहित पुरुष वैज्ञानिक विद्वान् राजा को संग्राम के लिए कृत्या-अभिचार की सम्मति दें उनका सम्पादन करें। जैसा कि अथर्व वेद में भी पुरोहितों द्वारा कृत्याओं के प्रतिकार-सम्पादन का स्पष्ट वर्णन है "ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु।" (अथर्व० ८। ५। ५) अब शत्रुकृत कृत्याओं का स्वपक्ष-रक्षा के लिए प्रतिकार और शत्रुसेनाओं में विष-धूम आदि रूप कृत्याओं का प्रयोग करना भी 'कौटिल्यार्थ-शास्त्र' में दिया है। "एतैः कृत्याप्रतीकारं स्वसैन्यानामथात्मनः। अमित्रेषु प्रयुञ्जीत विषधूमाम्बुदूषणान् ॥" (कौटिल्यार्थ शास्त्र। प्रकरण १७६) इस कौटिल्यार्थ शास्त्र के वचन में पूर्व कही हुई मणियों का 'एतैः' पद से सङ्केत कर उनके द्वारा शत्रु की विषप्रयोगरूप कृत्याओं का प्रतिकार करना लिखा है क्योंकि उक्त मणियां विषनाशक हैं जैसा कि इस मणि-प्रकरण के प्रारम्भिक वचन से स्पष्ट होता है कि "स्वपक्षे परप्रयुक्तानां दूषिविषगराणां प्रतीकारे······स्त्रीणां सेनायाश्च प्रतीकारः" (कौटिल्यार्थ० प्रकरण १७६)। तथा "जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकानामक्षीवे जातस्य अश्वत्थस्य मणिः सर्वविषहरः॥" (कौ० शास्त्र प्रकरण १७६) यहां अतिस्पष्ट ही है शत्रुप्रयुक्त समस्त विषक्रियाओं को मणियां नष्ट करती हैं। यही सिद्धान्त अथर्ववेद के मन्त्रों में है।

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥
(अथर्व १६। ३४। ४)

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥
(अथर्व २ । ४ । ६)

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी
सहमान उग्रः । प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥
(अथर्व ८ । ५ । २)

मणियां विषनाशक ओषधियों की होती हैं और ओषधियां भी विषनाशक होने से कृत्याओं की नाशक हैं यह भी अथर्व वेद के मन्त्र से प्रमाणित है—

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता
इहायन्त्वोषधीः ॥
(अथर्व ८ । ७ । १०)

यहां स्पष्ट विशनाशक ओषधियों को कृत्यानाशक कहा है। अस्तु । अब इतने वर्णन से सिद्ध हुआ कि शत्रुसेना का घात करने के लिए अग्निज्वालाओं में किन्हीं विषैले वानस्पत्य और खनिज पदार्थों के प्रयोग का नाम कृत्या है। "शब्द-कल्पद्रुम" में दिए कृत्यासम्बधी एक वचन से भी ऐसा ही लक्षित होता है "कृत्यामुत्पादयामासुर्ज्वालमालोज्वलाकृतिम्" अस्तु ।

इस प्रकार कृत्या का उपर्युक्त सप्रमाण विवेचन करने के अनन्तर अब अथर्व वेद में दिया हुआ स्वरूप, आधार, उपयोग, प्रयोग आदि का वर्णन क्रमशः करते हैं।

कृत्या का विशेष स्वरूप—

पूर्व कथन में ऐसा बतलाया जा चुका है, कि अग्नि-ज्वालाओं में वानस्पत्य और खनिज विष के प्रयोगद्वारा शत्रु सेना का घात करना कृत्या है। अब इसी जैसा और इससे भी स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद का देखिए।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥

(अथर्व० ४ । १८ । ३)

अर्थ—(यः पाप्मानम्-अमा कृत्वा) जो हिंसारूप प्रयोग को गुप्तस्थान में तैयार करके (तेन—अन्यं जिघांसति) उस हिंसाकारी प्रयोग से अन्य का घात करना चाहता है (तस्यां दग्धायाम्) उस जली हुई कृत्या में* (बहुलाः-अश्मानः फट् करिक्रति) बहुत प्रकार के मनशिल पोटाश आदि पाषाण 'फट्' ऐसा शब्द पुनः पुनः या अत्यन्त करते हैं।

इस मन्त्र से स्पष्ट हुआ कि 'कृत्या' के अन्दर फट्-फट् करने वाले पटखने वाले पाषाण भी होते हैं अर्थात्

---

* "यो देवाः कृत्यां कृत्वा०" (२) इस पूर्व मन्त्र में 'कृत्या' का वर्णन है उसका विशेषण यहां यह 'तस्यां दग्धायाम्' है।

वानस्पत्य तथा खनिज विषों के साथ मनशिल पोटाश आदि पटखने चटखने और अग्निज्वालक पदार्थों का बना आघातकारी प्रयोग 'कृत्या' है जैसा कि बम होता है।

तथा—

असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥

(अथर्व० ४।१६।६)

अर्थ—(असत्) अविद्यमान गुप्त या तुच्छ अथवा दुष्टकर्म कृत्यारूप (भूम्याः समभवत्) भूमि से प्रकट हुआ पृथिवी पर प्रकट किया हुआ (तत्) वह (महत्-व्यचः) बड़ा फैला हुआ हो (द्याम्) द्युलोक अर्थात् आकाश को (एति) प्राप्त होता है (ततः) फिर (वै) निश्चय (विधूपायत) मनुष्यों को सन्ताप देता है—घात करता है (तत) वह ऐसा कृत्याकर्म (कर्तारम्) कर्ता को (प्रत्यक्-ऋच्छतु) पीछे लौटे कर्ता का ही घात करे।

कृत्या पृथिवी के पदार्थों से बनी हुई गुप्तरूप में अल्पाकार होती है परन्तु प्रयोग द्वारा आकाश में फैलकर बड़ारूप धारण कर लेती है पुनः मनुष्यों का घात करती है। इस वर्णन से कृत्या एक विषैला वायव्य (गैसरूप) घातक प्रयोग है यह सिद्ध होता है।

उपर्युक्त इन दोनों मन्त्रों से दो प्रकार की कृत्याओं की सूचना मिलती है। एक कृत्या स्फोटक पदार्थों से बनी हुई ठोस भारी। दूसरी फैलने वाली वायव्यरूप (गैसरूप) को धारण करने वाली है। दोनों कृत्याएं हिंसाकारी हैं प्रथमकृत्या स्फोटक पदार्थों-वाली विशेषतः तोड़ फोड़ के लिये उपयुक्त होती है जो मकानों स्थानों को तोड़ती फोड़ती हुई प्राणियों का भी घात करती है। दूसरी केवल वायु और आकाश में फैलकर मनुष्य आदि प्राणियों का घात करती है। ऐसे ये दो प्रकार की कृत्याएं हुई। अन्यत्र वेद में स्पष्ट रूप से कृत्याओं के दो प्रकारों का वर्णन है। वह भी देखिये—

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः
कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परायन्तु परावतो नवतिं नाव्या अति॥
(अथर्व० ८। ५। ६)

अर्थ—(याः) जो (आङ्गिरसीः कृत्याः) अग्नि से या अग्निज्वालाओं को छोड़ती हुई कृत्याएं हैं "अङ्गिरा उ ह्यग्निः" (श० १। ४। १। २५) "अङ्गिरा वा अग्निः" (श० ६। ४। ४। ४) और दूसरी (याः) जो (आसुरीः कृत्याः) केवल प्राणों में रमण करने--प्राणों में आघात पहुंचाने वाली माया-मयी गुप्त वायव्यरूप (गैस रूप) में फैलने वाली कृत्याएं हैं

"मायेत्यसुरा उपासते" (श० १० । ५ । २ । २०) "आसुरी माया स्वधया कृतासीति प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया स्वधया कृता" (श० ६ । ६ । २ । ६) (याः कृत्याः) जो ये दोनों कृत्याएं (स्वयंकृताः) शत्रु-सेना के घातार्थ अपनी की हुई हों (याः-उ च) और जो भी ये दोनों कृत्याएं (अन्येभिः) दूसरों ने । शत्रुओं ने हमारे घाताथ (आभृताः) सम्पादन की हैं (ताः-उभयीः) वे दोनों प्रकार की कृत्याएं (नवतिं नाव्याः-अति) नव्वे पूर्ण भरी नदियों को अतिक्रमण करके (परावतः) दूर (परायन्तु) चली जावें ।

इन दो प्रकार की कृत्याओं में पहली कृत्या जो "आङ्गिरसी" अग्नि या अग्निज्वलाओं की उत्पादक अग्नि-चूर्ण द्रव्यों से बनती है। अग्नि-चूर्ण में अग्निप्रदीप्त करने वाले स्फोटक पदार्थ होते हैं इसके सम्बन्ध में शुक्रनीति में अग्नि-चूर्ण की वस्तुएं बतलाई हैं—

अङ्गारस्य गन्धस्य सुवर्चिलवणस्य च ।
शिलाया हरितालस्य तथा सीसमलस्य च ।
हिंगुलस्य तथा कान्तरजसः कर्पूरस्य च ।
जतोर्नील्याश्च सरलनिर्यासस्य तथैव च ॥
समन्यूनाधिकैरंशैरग्निचूर्णान्यनेकशः ॥

(शुक्र० अ० ४ । प्र० ७ । २० ६—२०८)

यहां गन्धक, शोरा, मनशिल, पोटाश, हरिताल, सीसे का मल, सिङ्गरफ, फौलाद का चूरा, कपूर या खपरिया,

लाख, नील, राल या बेरजा आदि द्रव्यों का अग्निचूर्ण बनाया जाता है। इस ऐसे अग्निचूर्ण में आवश्यकतानुसार लोहे के टुकड़े गोले आदि आघातकारी पदार्थ डाले जाते हैं यही आङ्गिरसी कृत्या है। दूसरी 'आसुरी' कृत्या जो केवल प्राणघातक है वह स्थावर-जङ्गम-विषों के योग से बनाकर वायव्य (गैस) धूम के रूप में छोड़ी जाती है इसके सम्बन्ध में 'कौटिल्यार्थ शास्त्र' में अनेक योग दिये गए हैं जैसे—

चित्रभेककौण्डिन्यककृकणपञ्चकुष्ठशतपदीचूर्णं-
मुच्चिदिङ्गकम्बलीशतकन्देध्मकृकलासचूर्णं गृह-
गोलिकान्धाहिककृकणपूतिकीटगोमारिकाचूर्णं
भल्लातकावल्गुकारसयुक्तं सद्यः प्राणहरमेतेषां वा धूमः।

(कौ० अर्थ० औपनि० १४।१।५)

इस योग में चितकबरा मेण्डक, कौंडिल्यक अग्नि-प्रकृति कीट जिसके विष्ठा और मूत्र में विष होता है, कृकण कीट या कयार पक्षी, कुष्ठ का पञ्चाङ्ग, कानखजूरा इन का चूर्ण। उच्चिटिङ्ग कीट जिसके पीठ में डंक होता है, कम्बली कीट, कनेर की लकड़ी, गिरगिट इनका चूर्ण। छिपकली, अन्धाहिक एक विष मछली, कृकण कीट या कयार पक्षी, दुर्गन्धी कीट, कटेहली इनका चूर्ण। भिलावा, बाबची इन दोनों के रस में गीले करके इनका धूँआ तुरन्त प्राणों का नाशक है।

इन दोनों प्रकार की कृत्याओं का सङ्केत या मूल निम्न मन्त्र में भी है—

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ॥
सर्वांस्तान् अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥

(अथर्व० ११।११।२४)

इन दोनों प्रकार की 'आङ्गिरसी' और 'आसुरी' कृत्याओं का उपयोग संग्राम में शत्रुसेना का घात करने के लिए होता है अब यह देखिये—

शितिपदी संद्यतु शरव्ये३यंचतुष्पदी ।
कृत्येमित्रेभ्यो भव त्रिपन्धेः सह सेनया ॥

(अथर्व० ११।१०।६)

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (त्रिपन्धेः-सेनया सह) तीनों स्थल जल और आकाश में सम्बन्ध करने वाले राजा की सेनाद्वारा छोड़ी हुई (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिए शत्रुओं के संहार के लिए (भव) हो (इयम्) यह सेना (शरव्या) शर-हिंसक शस्त्रास्त्र फेंकने में योग्य (शितिपदी) शीघ्र पैरों वाली (चतुष्पदी) चार पद अर्थात् पैदल-घोड़े-हाथी विमान से सज्जित (संद्यतु) शत्रुसेना को खण्डित करे ।

इस मन्त्र में सेना द्वारा प्रयुक्त कृत्या संग्राम में काम आने वाली है।

कृत्या के आधार—

कृत्याएं दो प्रकार की बतलाई गई हैं, एक आङ्गिरसी-स्फोटक पदार्थों वाली जो गिर कर मकानों स्थानों को तोड़ फोड़ देने वाली है। दूसरी विषवस्तुओं से बनी मनुष्यों प्राणियों का घात करने वाली 'आसुरी' है। उस 'आसुरी' के आधार और प्रयोगस्थानों का वर्णन निम्न मन्त्रों में देखिये—

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि॥
(अथर्व० ४।१७।४)

अर्थ—(ते) तेरे लिए (याम्) जिस कृत्या को (आमे पात्रे) कच्चे पात्र में-निर्बलपात्र में (चक्रुः) करते हैं (याम्) जिसको (नीललोहिते) नीले लाल रंग के पक्के पात्र में (चक्रुः) करते हैं (यां कृत्याम्) जिस घातक प्रयोग को (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (तया) उसी घातक क्रिया या प्रयोग से (कृत्याकृतः) कृत्या करने वालों को (जहि) मार।

विषकृत्या के तीन आधार बतलाए हैं, कच्चे निर्बल पात्र में पक्के दृढ़ पात्र में और मांस में विषकृत्याओं के प्रयोग किये जाते हैं। निकट स्थान पर या शीघ्र की जाने वाली कृत्याएं कच्चे पात्र में विषयुक्त पदार्थों को भरना होता है। कुछ दूर स्थान पर किसी के द्वारा भेजने वाली-कुछ देर में की जाने वाली या ऊँचे से विमान आदि द्वारा छोड़ी जाने वाली कृत्याएं पक्के पात्रों में की जाती हैं और अधिक दूर स्थान पर भेजने वाली देर में परिणाम लाने वाली कृत्याएं कच्चे मांस में करते हैं जिससे विषपदार्थ देर में वायव्य (गैस) बन कर फैल सके या किसी जीवित प्राणी में करते हैं, उसके स्पर्श सहवास दूध और मूत्र तथा पुरीष आदि से विषाणु दूसरे का घात कर सकें जैसा कि 'सुश्रुत' में शत्रुओं के घात के लिए 'विषकन्या' तैयार करने का वर्णन है।

कृत्या के प्रयोग स्थान—

यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्।
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां निदध्मसि ॥

(अथर्व० १४ । २ । ६९)

अर्थ— (यत्) जो कि (आसन्द्याम्) कुरसी में (उपधाने) सिरहाने में (यत्-वा) और जो कि

(उपवासने) उपवस्त्र-चादर आदि में (कृतम्) किया है (विवाहे) विशेष वाहन पालकी आदि सवारी में (आस्नाने) स्नान करने के जलाशय में (यां कृत्याम्) जिस कृत्या को (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसे (निदध्मसि) निराकृत करते हैं–तिरस्कृत करते हैं।

इस मन्त्र में आसन्दी (गद्दी शय्या) तकिये उपवस्त्र, चादर, पालकी आदि सवारी और जलाशय में विष-कृत्याओं के करने की चर्चा है। 'सुश्रुत' के कल्पस्थान में भी विषप्रयोग इन स्थानों में शत्रु के घात के लिए करते हैं ऐसा कहा है।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥

(अथर्व० ४ । १८ । ५)

अर्थ—(यां क्षेत्रे चक्रुः) जिस कृत्या घातक विष-क्रिया को अन्न के खेत में करते हैं (यां गोषु) जिसको गौओं में गौ आदि पशुओं में (यां वा) या जिस कृत्या को (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (सर्वाः कृत्याः) उन सब कृत्याओं को (अनया-ओषध्या) इस ओषधि से (अहम्) मैं (अदूदुषम्) दूषित करता हूं ।

इस मन्त्र में अन्न के खेतों में अन्न विषैले बनाने के लिए तथा गौ आदि पशुओं और मनुष्यों के घात के लिए विषकृत्याएं की जाती हैं ऐसा कहा है। यहां एक विशेष बात यह कही है कि खेत में विषकृत्या से खेत के अन्न विषदूषित हो जाते हैं ऐसी सम्भावना अन्यत्र भी अथर्व वेद में दी है जो निम्न प्रकार है।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
.... अविषं कृणोमि ॥

(अथर्व० ८ । २ । १९)

इस प्रकार अनेकों वस्तुओं में कृत्याएं की जाने का अथर्व वेद में वर्णन है विस्तार भय से हम सब पर यहां विचार नहीं कर सकते।

कृत्या का लौटाना—

अथर्व वेद में कृत्याओं के लौटाने का वर्णन है वह दो प्रकार से हो सकता है एक तो कृत्या के विषप्रभाव या घातक प्रभाव का शमनरूप, दूसरे उसके प्रतीकार में प्रत्याक्रमणरूप अर्थात् शत्रु पर वैसा ही प्रयोग करना। शमनरूप प्रतीकार ओषधियों के द्वारा और प्रत्याक्रमणरूप अग्नि, विद्युत, सूर्य-किरणों आदि के द्वारा हो सकता है यही कृत्या का लौटाना है। यहां प्रथम कृत्या लौटाने के दो एक मन्त्र देकर पुनः उसके लौटाने के उपायों पर विचार करेंगे।

असद् भूम्याः समभवत्तद् यामेति महद् व्यचः ।
तद्ध ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥

(अथ० ४।१६।६)

इसका अर्थ हम अभी पीछे कर आए हैं, फैलने वाले पदार्थों का घातक प्रयोग कृत्या है यहां केवल यही बतलाना ध्येय है कि इसमें कृत्या के लौटाने का वर्णन भी "प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु" वचन से ज्ञात होता है ।

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुपपद्यताम् ॥

(अथ० ५।३८।२)

अर्थ—(देवाः) हे देवो ! (यः कृत्यां कृत्वा) जो कृत्या करके (अविदुषः–गृहं हरात) बिना जाने हुए के स्थान का संहार करे (तम्) उसको (धारुः–इव मातरम्) दूध पिलाने वाली माता के प्रति जैसे (वत्सः) बछड़ा जाता है ऐसे (प्रत्यक्–उपपद्यताम्) पीछे लौट जावे ।

एवम्—

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश ।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥
अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥

(अथ० ५।१४।१०, १३)

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (पुत्रः-इव पितरं गच्छ) पुत्र जैसे पिता के पास जाता है अपने उत्पादक के पास जा (स्वजः-इव-अभिष्ठितः-दश) लिपटने वाला सांप जैसे अपने आश्रय में स्थित हुआ काटता है ऐसे काट (बन्धम्-इव-अवक्रामी) बान्धने वाले शिकारी पर जैसे जंगली जन्तु आक्रमण करता है ऐसे (कृत्याकृतं पुनर्गच्छ) कृत्या करने वाले के पास फिर जा-लौट ।

(अग्निः-इव प्रतिकूलं-एतु) कृत्या अग्नि की भांति प्रतिकूल प्राप्त हो शत्रु के प्रति जावे (उदकम्-इव-अनुकूलम्) जल के समान अनुकूल होकर जा हमारे लिए शमनरूप में हो जा (सुखः-रथः-इव) सुख हलका प्रगतिशील रथ के समान होकर (कृत्या कृत्याकृतं पुनर्वर्तताम्) कृत्या कृत्याकरनेवाले को पुनः प्राप्त हो ।

कृत्याएं लौटाई जाती हैं शमनरूप में या प्रत्याक्रमण-रूप में यह तो बतलाया जा चुका है वे ओषधियों तथा ओषधियों से बनी मणियों से शमन रूप में और अग्नि, विद्युत्, सूर्यकिरणों द्वारा प्रत्याक्रमणरूप में लौटाई जाती हैं अब इस विषय में मन्त्र और सूक्त देते हैं—

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

(अथर्व० २ । ४ । ६)

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

(अथर्व० १६ । ३४ । ४)

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥

(अथर्व० ४ । ६ । ५)

इन मन्त्रों का अर्थ हम पीछे मणियों के प्रकरण में कर आए हैं वहां से देखें । यहां तो केवल यह बतलाना ध्येय है कि "जङ्गिड मणि" को पिछले दो मन्त्रों में 'कृत्यादूषिः' और 'कृत्यादूषणः' कहा है तीसरे मन्त्र में 'आञ्जन-मणि' से कृत्याओं का प्रभाव नष्ट होता है यह बतलाया है । मणियां विषनाशक ओषधियों की होती हैं । विषनाशक ओषधियां विषैली वस्तुओं से बनी घातक क्रियारूप कृत्या की नाशक हैं । स्वयं अथर्ववेद में भी ओषधियों को कृत्यानाशक कहा है । देखिये—

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता
इहायन्त्वोषधीः ॥

(अथर्व० ८ । ७ । १०)

अर्थ—(याः-विबर्हणाः) जो विशेष वरणीय उत्तम-पूर्ण (उग्राः) तीव्र गन्ध रस आदि गुणों से युक्त (विषदूषणीः) विषनाशक (अथ) और (बलासनाशनीः) कफनाशक (च) और (याः) जो (कृत्यादूषणीः) कृत्या-नाशक (ताः) वे (ओषधीः) ओषधियां (उन्मुञ्चन्तीः) रोगों से छुड़ाती हुई आवें-प्राप्त हों।

इस मन्त्र में 'विषदूणी ओषधि' तथा विषनाशक ओषधियों को 'कृत्यादूषणीः' कृत्यानाशक कहा है।

तथा—

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषणाम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषुः॥

(अथर्व० ४ । १८ । ५)

इस मन्त्र का अभी अर्थ कर आए हैं इसमें 'अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्' से ओषधियों के द्वारा कृत्याओं के नाश करने का वर्णन हैं।

इस प्रकार विषनाशक ओषधियों तथा उनसे बनी मणियों (गोलियों, टिकियाओं) के द्वारा कृत्याओं के नष्ट करने का वर्णन शमन रूप से है। तथा मणियां ऐसी भी हैं जो कृत्याओं का प्रत्याक्रमण भी करती हैं जैसे 'प्रतिसर' अर्थात् प्रतीवर्त मणि देखिये निम्न मन्त्र—

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।...

... प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ १–२ ॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥

(अथ० ८।५।१–२।, ५)

इन मन्त्रों का अर्थ हम पीछे 'प्रतिसर मणि' के प्रकरण में कर आए हैं और वहां यह भी बतला आए हैं कि यह 'प्रतिसर मणि' एक फेंकने वाला अस्त्र है तभी मन्त्र में कहा है कि यह वीर मणि वीर सैनिक द्वारा बांधा जाता है जैसे बन्दूक आदि गोली फेंकने का साधन है। 'प्रतिसर' उससे भी बढ़ कर मशीनगन या टैंक जैसा अस्त्र है उसमें से बहुत 'प्रतिसर' मणियां गोले गोलियां निकल कर कृत्याओं का प्रत्याक्रमणरूप नाश कर सकती हैं तब ही तो यहां कहा है "प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु" कृत्याओं को प्रतिसरों प्रतिसर-रूप अनेक मणियों गोलियों गोलों से पीछे हटावें। कौन हटावें इसके लिए कहा है 'देवाः' देव वे कौन उसका भी कुछ सङ्केत है कि अग्नि, सोम, बृहस्पति, सविता, इन्द्र (विद्युत्) इस वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि ये प्रतिसर मणियां अस्त्र अनेक प्रकार की होती हैं जिनसे शत्रु की कृत्याओं अस्त्रों का प्रत्याक्रमण रूप में उत्तर दिया जा सके। निःसन्देह प्रतिसर मणियां अस्त्र हैं इन अग्नि आदि वस्तुओं

के नाम आग्नेय अस्त्र आदि वाल्मीकि रामायण में भी दिए हैं विश्वामित्र ऋषिद्वारा राम के प्रति अस्त्रों के प्रदान प्रकरण में—

विष्णुचक्रं तथाऽप्युग्रमैन्द्रं चक्रं तथैव च ।
वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ······ ॥
आग्नेयमस्त्रं······
प्रस्वापनं प्रशमनं दद्मि सौम्यं च राघव ।
सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोपकर्षणम् ॥

(वाल्मीकि रा० । बालका० सर्ग २७, ५, ६, १०, १४, १९)

अब हम स्फोटक कृत्याओं का जो कि मकानों नगरों को तोड़ फोड़ देने तथा प्राणियों का घात करने वाली हैं उनके प्रत्याक्रमणरूप लौटाने के ब्राह्मास्त्र आदि अन्य उपायों का वर्णन एक समस्त सूक्त (अथर्व० १० । १) के के द्वारा करते हैं ।

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः । सारादेत्वपनुदाम एनाम् ॥ १ ॥

अर्थ—(चिकित्सवः) रासायनिक–रसायन जानने वाले खनिज और वनस्पति पदार्थों के विज्ञानवेत्ता जन (वहतौ वधूम्-इव) वर या वरपक्ष वालों के निमित्त वधू की भांति (यां विश्वरूपां हस्तकृताम्) जिस समस्तरूपों वाली हाथों से बनाई

घातक वस्तु मूर्तिविधि को (कल्पयन्ति) सम्पन्न करते हैं-तैयार करते हैं (सा) वह (आरात्-एतु) हमसे दूर जावे (एनाम्-अपनुदामः) इसको हम हटाते हैं-लौटाते हैं।

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता सम्भृता विश्वरूपा ।
सा० ॥ २ ॥

अर्थ—(कृत्याकृता) कृत्या बनाने वाले के द्वारा (शीर्षण्वती) सिरवाली (नस्वती) नाक वाली (कर्णिनी) कान वाली (विश्वरूपा) समस्तरूपों वाली जो (सम्भृता) तैयार हुई कृत्या है (सा०) वह हमसे दूर हो जावे। इसको हम हटाते हैं—लौटाते हैं।

इस मन्त्र में ऐसा लक्षित होता है कि घातक कृत्याएं पुतलियों के रूप में बनाई जाती हैं बाहर से स्त्री आदि प्रतीत हों परन्तु अन्दर पटखने तोड़ फोड़ मचाने वाले घातक पदार्थ उसमें हों दूसरे लोग उन्हें ठीक न समझ कर उन पर आक्रमण करते हैं तब वे या स्वयं समय पर फटकर शत्रु के मण्डल नगर आदि में तोड़ फोड़ के पदार्थ छोड़ घात कर डालती है* ।

* शस्त्र-अस्त्रों के बाह्यरूप माया के बनाये जाते हैं उनमें नाक कान आदि सहित आकृतियां बनाते हैं। हैदराबाद दक्षिण के "दौलताबाद" दुर्ग में एक मेंढा के आकार की तोप हमने देखी है उसे मेंढा तोप कहते हैं।

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं वन्ध्वृच्छतु ॥३॥

अर्थ—(शूद्रकृता) शूद्रों द्वारा की हुई (राजकृता) राजाओं के द्वारा की गई (स्त्रीकृता) स्त्रियों के द्वारा की गई (ब्रह्मभिः कृता) भेषजवेत्ता विद्वानों द्वारा की गई (जाया पत्या नुत्ता-इव) पति से ठुकराई हुई स्त्री जैसे अपने उत्पन्न कर्त्ता पितृकुल में चली जाती है ऐसे यह कृत्या हमसे ठुकराई हुई (कर्तारं बन्धु-ऋच्छतु) उत्पन्न करने तैयार करने वाले बन्धु को * प्राप्त हो ॥ ३ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥४॥

अर्थ—(अहम्-अनया-ओषध्या) मैं इस ओषधि से (सर्वाः कृत्याः) सारी कृत्याओं को (अदूदुषम्) नष्ट करता हूं (यां क्षेत्रे) जिसको अन्न के खेत में (यां गोषु) जिसको गौ आदि पशुओं में (वा) अथवा (ते) तेरे (यां पुरुषेषु) मनुष्यों में (चक्रुः) करते हैं ।

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रति प्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥५॥

* "सुपां सुलुक्" (अष्टा० ७ । १ । ३९) से 'वन्धु' शब्द की द्वितीया विभक्ति का लुक् (लोप) होगा ।

अर्थ— (यथा) जैसे (अघकृते) पाप करनेवाले के लिए (अघम्) पाप तथा (शपथीयते) शपथ देने वाले-अपशब्द कहने वाले के लिए (शपथः) अपशब्द (अस्तु) हो। ऐसे ही (प्रत्यक् प्रतिप्रहिएमः) कृत्या को भी पीछे लौटाते हैं (कृत्याकृतं हनत्) वह कृत्या करने वाले का घात करे ॥ ५ ॥

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥६॥

अर्थ—(आङ्गिरसः) अङ्गिरा-अग्नि-अग्नितत्त्व का अग्निविद्या का जानने वाला "अङ्गिराः वा अग्निः" (श० ६।४।४।४) "तदधीते तद्वेद" (अष्टा० ४।२।५९) (प्रतीचीनः) प्रत्यञ्चनकारी-शत्रु के घातक प्रयोगों को लौटाने वाला (नः) हमारा (अध्यक्षः पुरोहितः) अक्ष में-समक्ष में वर्तमान हुआ पुरोहित है। वह तू (कृत्याः) कृत्याओं को (प्रतीचीः-आकृत्य) उलटी करके (अमून् कृत्याकृतः) उन कृत्या करने वालों को (जहि) मार ॥ ६ ॥

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतीकूलमुदाय्यम् ।
तं कृत्येभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥७॥

अर्थ—(यः) जो (त्वा-उवाच) तुझे कहता है (परेहि-इति) जा (तं प्रतिकूलम्-उदाय्यम्) उस प्रतिकूल

उद्धत शत्रु को (कृत्ये) हे कृत्या ! तू (अभिनिवर्तस्व) लौट (अस्मान्-अनागसः) हम अनपराधियों को (मा-इच्छः) मत चाह ॥ ७ ॥

यस्ते परूंषि सन्दधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेयनमज्ञातस्तेयं जनः ॥ ८ ॥

अर्थ—(यः) जो (ते परूंषि) तेरे जोड़ों को (सन्दधौ) जोड़ता है (धिया रथस्य-इव-ऋभुः) जैसे विश्वकर्मा रथकार बुद्धि से रथ को बनाता है । (तं गच्छ) उसको प्राप्त हो (तत्र) वहां (ते-अयनम्) तेरा आश्रय है (अयं जनः) यह जन-जनपद (ते-अज्ञातः) तेरा अज्ञात है अपरिचित है ॥ ८ ॥

ये त्वा कृत्वा लेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

अर्थ— (ये) जो (विद्वलाः) ज्ञानवान् या पीड़ा देने वाले (अभिचारिणः) घातक प्रयोग करने वाले जन (त्वा) हे कृत्या ! तुझे (कृत्वा) बनाकर (आलेभिरे) ठोकर देने के साधन से प्रेरित करते हैं (इदं शम्भु-कृत्या-दूषणम्) यह शमनकारक कृत्यानाशक (प्रतिवर्त्म) पीछे लौटाने वाला (पुनःसरम्) पीछे गति देने वाला 'पुनःसर'

साधन हमारे पास है (तेन) उससे (त्वा) तुझे (स्रपयामसि) लपेटते हैं* या गर्भस्रावित करते हैं।

कृत्याओं के लौटाने का साधन 'पुनःसर' नामक यहां कहा गया है जो कि मणिप्रकरण में कहे 'प्रतिसर' की भांति है परन्तु यह मणि नहीं है एक यान्त्रिक साधन है ॥ ९ ॥

यद् दुर्भगां प्रस्रपितां मृतवत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोपतिष्ठतु ॥ १० ॥

अर्थ—(यत्) कि हे कृत्या! (दुर्भगाम्) दुर्भगा–कुत्सित इन्द्रियवाली को (प्रस्रपिताम्) गर्भस्राव करती हुई (मृतवत्साम्) बच्चा मर जाने वाली स्त्री की भांति (उपेयिम) तुझे प्राप्त हों। तो (मत्) मुझ से (सर्वं पापम्) समस्त दोष (अपैतु) दूर हो जावे (द्रविणम्) बल (मा) मुझे (उपतिष्ठतु) प्राप्त हो ॥ १० ॥

यत्ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु
त्वौषधीः ॥ ११ ॥

अर्थ—(ते पितृभ्यः-ददतः) हे राजन्! तेरे पिता आदि महानुभावों के लिए देते हुओं ने (वा) या

* "ष्णै वेष्टने" (भ्वादि०)

(यज्ञे) यज्ञ में देते हुओं ने (यत्) जो (नाम) उस कृत्या के सम्पर्क का जल "नामेत्युदकनाम" (निघं० १ । १२) । (जगृहुः) ग्रहण किया है उस (सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्) समस्त नोदने अन्दर घुसने वाले प्रभाव से (त्वा) तुझे (इमाः ओषधीः) ये ओषधियां (मुञ्चन्तु) मुक्त करे ॥ ११ ॥

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्रहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस
ऋषीणाम् ॥१२॥

अर्थ—(देवैनसात्) देवों के प्रति किये अपराध से (पित्र्यात्-नामग्रहात्) पिता आदि सम्बन्धी अपयशकारी नाम लेने से (अभिनिष्कृतात् संदेश्यात्) मुख से निकाले ताड़नारूप वचन से (वीरुधः) ओषधियां (त्वा) तुझे (वीर्येण) गुण बल से (ब्रह्मणा) ब्रह्मा विद्वान् के द्वारा (ऋग्भिः) ऋचाओं से (ऋषीणां पयसा) गतिशील पदार्थों--सूर्यकिरणों के तेज के सहयोग से (त्वा) तुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥१२॥

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥१३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) धूलि को (च) और (अन्तरिक्षात्)

अन्तरिक्ष से (अभ्रम्) बादल को (च्यावयन्ति) च्युत कर देता है—उड़ा देता है (एव) इसी प्रकार (मत्) मुझ से (सर्वं दुर्भूतम्) सब बुरा प्रभाव (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मा वैज्ञानिक से या ब्रह्मास्त्र से प्रेरित किया हुआ (अपायति) दूर हो जावे ॥१३॥

अपक्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव ।

कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥१४॥

अर्थ—(नानदती) अत्यन्त नाद करती हुई (विनद्धा) बिना बंधी हुई (गर्दभीव) गर्दभी घोड़ी की भांति (अपक्राम) भाग जा तथा (इतः) यहां से (वीर्यवता ब्रह्मणा) बलवान् ब्रह्मास्त्र से (नुत्ता) ताड़ित हुई (कर्तॄन् नक्षस्व) कर्ताओं को प्राप्त हो ॥१४॥

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्रहिण्मः । तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥१५॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! (अयं पन्थाः) यह मार्ग है (इति) बस इससे (त्वा) तुझे (नयामः) ले जाते हैं (अभिप्रहितां त्वा) शत्रु से भेजी हुई तुझको (प्रतिप्रहिण्मः) पीछे प्रेरित करते हैं—लौटाते हैं (तेन) उससे तू (भञ्जती) तोड़ फोड़ करती हुई (अनस्वती) यान वाली (वाहिनी)

वाहन वाली (विश्वरूपा) सब रूपों वाली (कुरूटिनी) बुरी तरह घात करती हुई (अभियाहि) शत्रु के सम्मुख जा ॥१५॥

पराक ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व । परेणेहि नवतिं नाव्या अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥१६॥

अर्थ--(पराक्) पीछे लौटने को (ते) तेरे लिए (ज्योतिः) प्रकाश है--मार्ग है (अर्वाक्) इधर हमारी ओर आने को (ते) तेरे लिए (अपथः) अमार्ग है (अस्मत्-अन्यत्र) हम से अन्यत्र (अयना कृणुष्व) आश्रय बना (नवतिं नाव्याः-दुर्गाः स्रोत्याः) नौकाओं से पार होने योग्य गहरी नब्बे नदियों को (परेण-अतीहि) परले शत्रु के तरफ के मार्ग के द्वारा अतिक्रमण कर (मा क्षणिष्ठाः) हमें मत हिंसित कर (परेहि) दूर जा ॥ १६ ॥

वात इव वृक्षान् निमृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् । कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येप्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥

अर्थ—(कृत्ये वातः-इव वृक्षान् कर्तॄन् निमृणीहि) हे कृत्या ! तू अपने बनाने वालों भेजने वालों को आंधी जैसे वृक्षों को नष्ट करती है ऐसे हिंसित कर (पादय) विनष्ट कर (एषाम्) इनके (गाम्-अश्वं-पुरुषं मा-उच्छिषः) गौ घोड़े

मनुष्य को मत शेष रहने दे (इतः) यहां से (निवृत्य) लौट कर (अप्रजास्त्वाय बोधय) उनको प्रजाहीनता के लिए जला फूंक ॥ १७ ॥

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः । अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥१८॥

अर्थ—(यां कृत्यां ते बर्हिषि) जिस कृत्या को तेरे जलाशय में "बर्हिरुदकनाम" (निघ० १।१२) (यां श्मशाने) जिस कृत्या को श्मशान भूमि में (क्षेत्रे) खेत में (वा) या (वलगम्) वलग--गुप्त घातक प्रयोग को (निचख्नुः) नीचे दबाते हैं (वा) या (धीरतराः) अत्यन्त कठोर जन (त्वा पाकम्-अनागसं सन्तम्) तुझ शुद्ध पापरहित होते हुए के प्रति (गार्हपत्ये-अग्नौ) गार्हपत्य अग्नि में (अभिचेरुः) अभिचार करते हैं—छल से घातक प्रयोग करते हैं उसे हम नष्ट करते हैं ॥१८॥

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम् । तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव विवर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् ॥१९॥

अर्थ—(उपाहृतम्) ऊपर से ढके हुए (अनुबुद्धम्) स्फुरित होने वाले पटखने जलने खिलने वाले (निखातम्)

सुरंग आदि द्वारा दबाए हुए (त्सारि) कुटिल (कर्त्र वैरम्) हिंसक घातक वैर को—शस्त्र अस्त्र प्रयोग को (अन्वविदाम) हम जान चुके हैं (तत्) वह (यतः-आभृतम्) जहां से आया-लाया (तत्र) वहां (एतु) जावे (अश्वः-इव) वहां घोड़े के समान (विवर्तताम्) उलटा वर्त्ते-दौड़ जावे (कृत्याकृतः प्रजां हन्तु) कृत्या करने वालों की प्रजा को नष्ट करे ॥

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते
कृत्ये यतिधा परूंषि । उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते
किमिहेच्छसि ॥२० ॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! (नः-गृहे) हमारे घर में (स्वायसाः) उत्तम लोहे से बनी हुई (असयः) तलवारें (सन्ति) हैं । तथा (ते) तेरे (यतिधा) जितने प्रकार के (परूंषि) जोड़ हैं। उन्हें (विद्म) हम जानते हैं अतः (अज्ञाते) हे अज्ञातरूपा छिपी हुई कृत्या ! तू (उत्तिष्ठ-एव) उठ ही (इतः परा-इहि) यहां से दूर चली जा (किम्) क्या (इह) यहां (इच्छसि) चाहती है, देख !

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥२१॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! (ते) तेरी (ग्रीवाः) गर्दनें-गर्दनों के भागों (च) और (पादौ) दोनों पैर (अपि

कर्त्स्यामि) अवश्य काट दूंगा । अतः (निर्द्रव) निकल जा (इन्द्राग्नी) विद्युत् अग्नि (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करें (यौ) जो (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रजावती) प्रजापति हैं* ॥ २१ ॥

इस मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' विद्युत्-अग्नि को कृत्याओं से बचाने वाले कहा है। इनके द्वारा कृत्या का शमन या शत्रुओं के प्रति प्रेरित किया जाना लक्षित होती है।

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो
मृडयन्तु ॥ २२ ॥

अर्थ— (सोमः-राजा) सोम ओषधि या चन्द्रमा (अधिपाः) रक्षक (मृडिता) सुखकारक (च ; तथा (भूतस्य) उत्पन्न संसार के (पतयः) पालक पदार्थ (नः) हमें (मृडयन्तु) सुखी करें ॥ २२ ॥

यहां कृत्यानाशक योग में सोम ओषधि या चन्द्रमा को भी साधनरूप में बतलाया है ॥ २२ ॥

भवशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते ।
दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥

अर्थ—(पापकृते) कृत्यारूप पाप करने वाले (दुष्कृते) दुष्कर्म करने वाले (कृत्याकृते) कृत्या करने वाले

* प्रजावती-प्रजापती पकारस्य वकारश्छान्दसः पदपाठे प्रगृह्यं मत्वा चेति करणात् ।

के लिए (भवशर्वौ) उत्पादक नाशक प्रकाश और दाह अग्नि के दोनों धर्म तथा मित्र वरुण दो शक्तियां (देवहेतिं विद्युतम्) दिव्यवज्ररूप विद्युत् को (अस्यताम्) फेंकें ॥ २३ ॥

यहां प्रकाशक, दाहक, आग्नेय दो धर्मों से विद्युत् को फैंकने की चर्चा है ॥

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता सम्भृता विश्वरूपा । सेतोष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

अर्थ—(दुच्छुने) दुष्टवृत्तिवाली कृत्या ! तू (कृत्याकृता) कृत्या बनाने वाले के द्वारा (यदि) यदि (द्विपदी) दोपैरवाली (चतुष्पदी) चारपैरवाली (विश्वरूपा) सब रूपों वाली (सम्भृता) तैयार की हुई (इयथ) आई है (सा) वह तू (अष्टापदी) आठ पैर वाली (भूत्वा) होकर (इतः) यहां से (पुनः परेहि) पीछे लौट-या पुनः लौट ॥ २४ ॥

अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि । जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (सर्वं दुरितं भरन्ती) पूर्ण दुःख पहुंचाने के हेतु (अभ्यक्ता) माया से चिकनी चुपड़ी की हुई—पालिश चढ़ी हुई (आक्ता) चित्रित की हुई

(स्वरंकृता) सजाई हुई है। अतः (परेहि) दूर जा (दुहिता-इव स्वं पितरम्) लड़की जैसे अपने पिता को ऐसे (कर्तारं जानीहि) कर्ता को जान ॥ २५ ॥

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (परेहि) परे जा (मा तिष्ठ) मत ठहर (विद्धस्य-इव पदं नय) बिंधे हुए शिकार के पद चिह्न की ओर चल (सः-मृगः) वह मृग है (त्वं मृगयुः) तू व्याध है (त्वा) तुझे (न) नहीं (निकर्तु-मर्हति) काट सकता है ॥ २६ ॥

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो निहन्त्यपरः प्रति ॥२७॥

अर्थ—(उत) या तो (अपरः) दूसरा पुरुष (पूर्वासिनम्) पहिले से बैठे को (प्रत्यादाय) पकड़ कर (इष्वा) फेंकने योग्य अस्त्र से (हन्ति) मारता है (उत) या फिर (पूर्वस्य निघ्नतः) पहिले से मारते हुए के (प्रति) प्रतिकार में (अपरः) दूसरा पुरुष (निहन्ति) मारता है । अतः—

एतद्धि शृणु मे वचोथेहि यत एयथ
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

अर्थ—(एतत्-हि) इतना ही (मे वचः) मेरा वचन (शृणु) सुन (यतः) जहां से (एयथ) आती है (यः) जो (त्वा) तुझे (चकार) करती है (तं प्रति) उसके प्रति (अथ) अब (इहि) जा ॥ २८ ॥

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः। यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥२९॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! (अनागोहत्या) अदोषी की हत्या (वै) निश्चय (भीमा) भयङ्कर है–बुरी है (नः) हमारे (गाम्-अश्वं पुरुषम्) गौ घोड़े मनुष्य को (मा वधीः) मत मार (यत्र यत्र) जहां जहां (निहिता-असि) छिपी पड़ी है (ततः) वहां से (त्वा) तुझे (उत्थापयामसि) हम उठाते हैं (पर्णात्) पत्ते से भी (लघीयसी) हलकी (भव) हो ॥२९॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्रहिण्मसि।३०॥

अर्थ—(यदि) यदि (तमसा) अन्धकार से (आवृताः) भरी हुई। तथा (जालेन) जाल से (अभिहिताः-इव) जाल से सम्पन्न हुई सी (स्थ) हो (सर्वाः कृत्याः) सब कृत्याओं को (संलुप्य) मूर्च्छित करके (इतः) यहां से (कर्त्रे) कर्ता के लिए (पुनः प्रहिण्मसि) हम पीछे लौटाते हैं ॥३०॥

यहां कृत्याओं को धूम से भरी हुई और जालमयी बतलाया है जो मनुष्यों को अन्धा कर देती है तथा उन्हें पाश में बान्ध लेती हैं ॥३०॥

कृत्याकृतो वलगिनोभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोमून् कृत्याकृतो जहि ॥३१॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (वलगिनः)बन्धन के गुप्त प्रयोग करने वालों तथा (अभिनिष्कारिणः) अभिघात करने वालों–अभिचार करने वालों और (कृत्याकृत्यः) कृत्या करने वालों की (प्रजाम्) प्रजा को (मृणीहि) मार (अमून् कृत्याकृतः) उन कृत्या करने वालों को (मा-उच्छिषः) मत छोड़ । किन्तु (जहि) मार ॥३१॥

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ३२।

अर्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (तमसः परि) अन्धकार से (मुच्यते) छूट जाता है । तथा (रात्रिम्) रात्रि को (च) और (उषसः-केतून्) उषा के चिह्नों–प्रकाशान्धकार-मय रूपों को भी (जहाति) छोड़ देता है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (कृत्याकृता) कृत्या करने वाले के द्वारा (कृतम्) किये गये (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) बुरे (कर्त्रम्) घातक

प्रयोग को (जहामि) छोड़ देता हूं। तथा (हस्तीव) हाथी जैसे (रजः) धूल को छोड़ देता है ऐसे (दुरितम्) घातक प्रयोग को छोड़ देता हूं।

इस सूक्त में कृत्या लौटाने की चर्चा पुनः पुनः है और उपाय ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र, वैद्युतास्त्र, सौम्यास्त्र बतलाएं हैं। इससे पूर्व सावित्रास्त्र (सौरास्त्र) और बार्हस्पत्यास्त्र से हटाने का भी वर्णन बतला आए हैं। इन अस्त्रों से कृत्याओं को छिन्न भिन्न और निर्बल किया जाता है तथा इनके द्वारा कृत्याओं की अभिगति (अपनी ओर आक्रमणकारी गति) को शान्त करके प्रति-गति (लौटने की गति) देकर अपने जनस्थान–सेना मण्डल से हटाकर शत्रु के जनस्थान--सेना मण्डल या देश में प्रेरित कर देना होता है। अस्तु। इस प्रकार 'कृत्याएं' दोनों प्रकार की वायव्य विष प्रयोग (विषैली गैस बनाने का साधन) और स्फोटक अर्थात् तोड़ फोड़ मचाने वाला ध्वंसक खनिज आदि का प्रयोग ये दोनों ही धनुर्विद्या शस्त्रास्त्र–विद्याविषयक चर्चा है कोई कल्पित मन्त्र जादू टोना की बात नहीं है ॥

वलग और अभिचार—

'वलग' भी एक घातक प्रयोग का नाम है जो 'कृत्या' और 'अभिचार' से भिन्न है। कृत्याएं दो प्रकार की

बतलाई गई हैं, एक वायु आदि को विषैला बना देने वाली दूसरी स्फोटक खनिज पदार्थों से युक्त मकानों नगरों को तोड़ने फोड़ने वाली कही है। और 'अभिचार' किसी को खान-पान आदि में विष देकर हिंसा करने का नाम है परन्तु 'वलग' उस प्रयोग का नाम है जिससे न वायु आदि विषदूषित किये जावें या मकान नगर आदि तोड़े जावें और न किसी को खानपान में विष देकर हिंसा की जावे किन्तु इन दोनों से भिन्न बन्धनस्तम्भनकारी तथा उपद्रवकारी गुप्त प्रयोग है जो कि कहीं भूमि आदि में गाड़ या दबा छिपा दिया जावे और पुनः कालान्तर में हानिकारक सिद्ध हो 'वलग' से स्थानिक व्यक्तियों को पीड़ा और 'कृत्या' से पूरे पूरे नगर सेनामण्डल और देश का घात होता है। अस्तु। कृत्या के सम्बन्ध में तो बतलाया जा चुका है। अब 'वलग' और 'अभिचार' के सम्बन्ध में यहां विचार करना है। 'वलग' शब्द "वल वल्ल संवरणे संचलने च" (भ्वादि०) से बना है इसका शब्दार्थ जो प्रयोग संवरण अर्थात् स्वयं सङ्कोच दूसरे को आकर्षण करने और संचलन करने अर्थात् स्वयं चंचल हो जावे दूसरे को चंचल करदे जो प्रथम संकुचित हो पुनः जहां गाड़े या छिपावे वहां के स्थान में विकृति चंचलता उत्पन्न कर मनुष्य आदियों का संवरण-आकर्षण कर उन्हें क्षुब्ध और कम्पित करके पीड़ित करदे विद्युत् की भांति अपना प्रभाव उनके अन्दर डालदे जिससे उनका मुक्त होना असम्भव हो

जावे। ऐसे वैद्युत-शक्ति-भरे प्रयोग का नाम 'वलग' है। 'अथर्व० काण्ड १०। १। १८ में 'वलग' अथर्व० काण्ड १६। ६। ६। में 'वल्ग' पाठ है। इनमें वास्तविक पाठ 'वलग' ही है 'वल्ग' पाठ वाले (अथर्व १६। ६। ६) की टिप्पणी में क्वचित् पुस्तकों में 'वलग' पाठ भी दिया है। तथा तैत्तिरीय संहिता में भी 'वलग' पाठ है अतः शुद्ध पाठ 'वलग' ही है अन्यत्र भी अथर्व वेद का० ५। ३१। ४ में 'वलग, ही पाठ है। अस्तु। 'वलग' गाड़े जाने वाले छिपाये जाने वाले घातक प्रयोग हैं इसके लिए निम्न वचन देखिये—

असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन्।
तान् बाहुमात्रे न्वविन्दन् तस्माद् बाहुमात्राः खायन्ते ॥

(तै० सं० ६। २। ११। १)

निकलते हुए-छोड़कर जाते हुए असुरों ने देवों के प्राणों के निमित्त-प्राणों के नाशार्थ वलगों को नीचे गाड़ दिया उन्हें बाहुमात्र परिमाण में गड़े हुए पाया क्योंकि बाहुमात्र परिमाण में ही नीचे गाड़े जाते हैं*। वलग में विष-पदार्थ भी होते हैं ऐसा सायण ने लिखा है—

विषवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते।

(अथर्व. १९। ९। ९ सायणभाष्य)

---

* अथर्ववेद में भी वलग को गाड़ने का विधान है "वलगं वा निचख्नुः" (अथर्व १०। १। १८)

वलग और अभिचार के मन्त्र इकट्ठे हैं अतः दोनों के सम्बन्ध में अन्य कुछ विवरण मन्त्रों द्वारा इकट्ठा ही दिया जावेगा। 'अभिचार' का शब्दार्थ किसी के शरीर पर आक्रमण कर या शरीर में प्रविष्ट हो उसे खा जाने वाला विषप्रयोग है यह पीछे बतला आए हैं। 'शब्दकल्पद्रुम' में इसका अर्थ किया है कि "अभिचारः आभिमुख्येन शत्रुवधार्थं चारः कार्यकरणम्" (शब्दकल्पद्रुमः) तन्त्रग्रन्थों के अनुसार अभिचार वे छः विशेष कर्म हैं जिनसे किसी का 'मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण' किया जाता है। "षट्कर्म प्रदीपिका तन्त्र" में मारण आदि के प्रारम्भ में कहा है—

अभिचारस्य विषयानाकर्णय वदामि ते।
सक्रूरे क्रूरवर्गस्थे चन्द्रे वलिनि शोधने॥
विष्टियोगे च कर्तव्योऽभिचारोऽप्यरिनैधने॥ १॥
विषाग्निक्रूरशस्त्राद्यैर्हिंसक प्राणिनां मुदा।
योजयेन्मारणे कर्मण्येतान्न पातकी भवेत्॥ २॥

(षट्कर्मप्रदीपिकातन्त्र मारणम्। १,२)

इन प्रयोगों में भी विष तथा विष-जैसे उग्र पदार्थों का उपयोग कर किसी को मारना मोहित करना जड़ बनाना आदि होता है ऐसा तन्त्रग्रन्थों में देखा गया है। यहां विस्तारभय से केवल एक दो प्रयोग ही उद्धृत किये जाते हैं—

(मारणम्) ऊर्णनाभश्च षड्बिन्दुं समांशं कृष्णवृश्चिकम्।
यस्याङ्गे निक्षिपेच्चूर्णं सप्ताहात् स्फोटकैर्मृतिः॥

(मोहनम्) महिष्याः कृष्णसर्पस्य रक्ते चूर्णन्तु भावयेत्
कृष्णधुस्तूरपञ्चाङ्गं तद्धूपो मोहकृन्नृणाम् ॥
(ऐन्द्रजालिक सिद्धनागार्जुनकक्षपुट तन्त्र)

अब अथर्ववेदानुसार 'वलग' और 'अभिचार' पर प्रकाश डालते हैं।

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः। शं नो निखाता वलगाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥

(अथर्व० १९ । ९ । ९)

इस मन्त्र में उल्काओं से घिरा हुआ नक्षत्र, अभिचार, कृत्या, वलग, उल्का, देशोपसर्ग (देश के उत्पात-भूमि के उत्पात) के शमन करने का वर्णन है यहां अभिचार और कृत्याओं के साथ 'वलग' का वर्णन होने से 'वलग' को भी वैसा ही घातक होना सिद्ध करता है। दूसरी बात मन्त्र में विशेष कही गई है 'निखाता वलगाः' वलग नीचे गाड़े-दबाए-बिछाए-छिपाए जाते हैं अथर्व १० । १ । १८ में वलग को जल में गाड़ने दबाने बिछाने छिपाने का वर्णन आया है। जल में दबाना, बिछाना, छिपाना जाल के सदृश होसकता है जो शत्रु के यात-आयत यानों जहाजों का संवरण आकर्षण और संचलन तथा उन्हें बिखेर तोड़ फोड़ कर नष्ट कर देने का काम करता है वे वलग सुरंगों के रूप में हैं। अब केवल अभिचार के सम्बन्ध में ही वर्णन करते हैं।

अभिचार का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के साथ ही है और विषयुक्त खान पान आदि द्वारा किसी को मारने का नाम अभिचार है यही बात अथर्व वेद के निम्न मन्त्र से स्पष्ट होती है।

परि त्वा पातु समानेभ्योभिचारात्सबन्धुभ्यः।
अमम्रिर्भवामृतोतिजीवो मा ते हासिषुरसवः
शरीरम् ॥

(अथर्व० ८। २। २६)

अर्थ— (समानेभ्यः सबन्धुभ्यः) समानाधिकार-समानपद वाले तथा बन्धु-बान्धवों से हुए (अभिचारात्) अभिचार से-खान पान में विषप्रयोग से-खान पान आदि द्वारा घातक विषप्रयोग से (त्वा) तेरी (परिपातु) भेषज-औषध रक्षा करे। तू (अमम्रिः) उस अभिचाररूप विषप्रयोग से न मरने वाला (अमृतः) मरणरहित-स्वस्थ (अतिजीवः) दीर्घजीवनवाला (भव) हो (असवः) प्राण (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (मा हासिषुः) मत त्यागें।

यहां समानस्पर्द्धा वाले जनों तथा बन्धुओं द्वारा किए अभिचार से मर जाने की सम्भावना और भेषज से न मरने देने की चर्चा से अभिचार निश्चित खान पान आदि में विषप्रयोग का नाम है। तथा 'त्वा' शब्द एकवचन मन्त्र में आने से 'अभिचार' का क्षेत्र अल्प परिमित व्यक्ति तक होने से भी यह भोजन में विषप्रयोग है। तथा–

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि । मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज ॥

(अथर्व० ११ । १ । २२)

अर्थ—(पशुभिः सह-एनाम्-अभ्यावर्तस्व) गौ आदि पशुओं सहित इस गृहपत्नी का भली भांति उपभोग कर (देवताभिः सह-एनां प्रत्यङ् एधि) देवताओं सहित इस गृहदेवी को बाहर से निवृत्ति पाकर पूर्णरूप से अपना (त्वा) तुझे (शपथः) स्पृश्यरोग छूत की हवा "शपति स्पृशतिकर्मा" (निरुक्त० ३ । २१) (मा प्रापत्) न प्राप्त हो (मा-अभिचारः) भोजन आदि में विषप्रयोग मत प्राप्त हो (स्वे क्षेत्रे) अपने परिवार में (अनमीवा विराज) रोगरहित हुआ विराजमान हो ।

यहां 'अनमीवा' रोगरहित होने का प्रसङ्ग 'अभिचार' को मारण विषप्रयोग सिद्ध करता है और वह 'त्वा' से व्यक्तिगत अल्पस्थान वाला प्रयोग सिद्ध होता है । ऐसे व्यक्तिगत विषप्रयोगरूप अभिचार के दूर करने के उपाय पर भी विचार करते हैं ।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥

(अथर्व० ५ । ३० । २)

अर्थ—(त्वा) हे प्रिय ! तेरे प्रति (यत्) जो (स्वः पुरुषः) अपना मनुष्य (यत्) जो (अरणः-जनः) अन्य दुष्टजन (अभिचेरुः) अभिचार करते हैं–खान पान आदि में घातक विष का प्रयोग करते हैं (ते) उस तेरे लिए (वाचा) अपनी वाणी से (उन्मोचनप्रमोचने) उन्मोचन अर्थात् विष-पदार्थ को उत्क्लेशित करने उखाड़ने–बाहर निकालने और प्रमोचन अर्थात् शमन करने रूप (उभे) इन दो उपायों को (वदामि) बतलाता हूं।

जब किसी के द्वारा विष दिया पेट में चला जाता है तो उसके प्रभाव को नष्ट करने के दो ही उपाय या साधन हैं। एक तो उस विषपदार्थ को उत्क्लिष्ट कर देना अर्थात् ऐसी ओषधियां देना जिनसे वमन और विरेचन हो जावे। तुरन्त खाया हुआ विष जबकि आमाशय में ही हो तो वमन कराना और देर हो गई हो पक्वाशय में पहुंच गया हो तो विरेचन कराना अथवा दोनों वमन विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार ओषधियों से वमन और विरेचन कराना उदर के विष का 'उन्मोचन' उखाड़ना बाहर निकालना है। दूसरा उपाय या साधन उस विषपदार्थ के विषत्व या प्रभाव को अन्दर ही अन्दर शान्त कर दे ऐसी संजीवनी अगदों–ओषधियों और घृत मधु आदि का प्रयोग करना प्रमोचन अर्थात् शमन करना है। 'सुश्रुत' और 'चरक' में विषभक्षण पर ये ही दो उपाय बतलाये गए हैं—

महासुगन्धमिदमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक् ।
पानालेपनस्येषु विदधीताञ्जनेषु च ॥
विरेचनानि तीक्ष्णानि कुर्यात्प्रच्छर्दनानि च ।

(सुश्रुत कल्पस्थान । अध्याय १ । ७५-७३)

मन्त्र में 'उन्मोचनप्रमोचने' में उन्मोचन अर्थात् वमन विरेचन प्रथम कहा है एवं 'सुश्रुत' 'चरक' में भी प्रथम ही वमन विरेचन का विधान है । देखिये—

आमाशयं गतम्-तत्राशुमदनालाबुबिम्बीकोशातकी फलैः छर्दनम् ।
पक्वाशयं गतम्- विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलनीफलम् ॥

(सुश्रुत कल्पस्थान अ० १ । ३९ ।, ४१)

अब अभिचार के दूर करने का एक और उपाय अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ३ मन्त्र ७ में बतलाया है वह भी देखिये—

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् ।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥

(अथर्व० । १० । ३ । ७)

इस मन्त्र में कायरता, उदासीनता, अभिचार, भय, मृत्यु और वध से बचाने वाला 'वरण' मणि बतलाया है । हम पीछे 'मणिबन्धन' प्रकरण में 'वरण मणि' का वर्णन कर आए हैं वहां इसके सेवन करने के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाल

आए हैं 'वरण' बरना वृक्ष है यह हृदय रोग को दूर करता है यह भी हम वहीं 'वरण मणि' के प्रकरण में आयुर्वैदिक प्रमाणों से दर्शा आए हैं। यहां मन्त्र में इसे 'अभिचार' से बचाने वला इसी लिए कहा है कि 'अभिचार' खान पान में विषप्रयोग हो जाने पर हृदय की रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है जैसा कि 'सुश्रुत' और 'चरक' में विषभक्षण पर हृदय की रक्षा करना बतलाया है "हृदयावरणं नित्यं कुर्याच्च मित्रमध्यगः" (सुश्रुत कल्पस्थान। अ० १। ७८) "आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम्।" (चरक। विषचिकित्सा। अ० २३। ४४) अतः अथर्ववेद ने 'वरण' बरना को अभिचार से रक्षा का साधन बतलाया है।

इस प्रकार 'अभिचार' पर वैदिक विचार करने से यह स्पष्ट हुआ कि किसी व्यक्ति के घात के लिए खान पान में विष-प्रयोग का नाम 'अभिचार' है। कोई तान्त्रिक, कल्पित कल्पना से मन्त्र या जादू टोटका आदि नहीं है।

॥ इति ॥

१। ११। १९४१ ई०

प्रियरत्न आर्ष



ओ३म्

अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या

मन्त्रों की

वर्णानुक्रमसूची
